

अन्तवत्तु द्वितीयं स्याद् भूयो लोके समीक्षणात् ।
 सान्ते भयं सर्वथैवाभयं तस्मात् कुतो भवेत् ॥ ६६ ॥
 संयोगो विप्रयोगान्तः सर्वथैव विभावितः ।
 फलयोगोऽपि तस्माद्वि विनश्येदिति निश्चयः ॥ ६७ ॥
 यावदन्यत् फलं प्रोक्तं भयं तावत्प्रकीर्तितम् ।
 तदेवाभयरूपन्तु फलं सर्वे प्रचक्षते ॥ ६८ ॥
 यदात्मनोऽनन्यदेव फलं मोक्षः प्रकीर्तितः ।
 ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमपि फलं चैकं यदा भवेत् ॥ ६९ ॥
 तदा हि परमो मोक्षः सर्वभीतिविवर्जितः ।
 ज्ञानं विकल्पसङ्कल्पहानं मौढ्यविवर्जितम् ॥ ७० ॥
 ज्ञातुः स्वच्छात्मरूपं तदादावनुपलक्षितम् ।
 उपदेशक एवातो गुरुः शास्त्रं च नेतरत् ॥ ७१ ॥
 एतदेव हि विज्ञेयस्वरूपमभिधीयते ।
 ज्ञानृज्ञानज्ञेयगतो यावद्भेदोऽवभासते ॥ ७२ ॥
 तावज्ज्ञाता ज्ञानमपि ज्ञेयं वा न भवेत् क्वचित् ।
 यदा भेदो विगलितो ज्ञानादीनां मिथः स्थितः ॥ ७३ ॥
 तदा ज्ञानादिसम्पत्तिरेतदेव फलं स्मृतम् ।

अपनी आत्मा से अलग जो कुछ भी होगा, वह नाशवान् तो होगा ही; क्योंकि पता ही इस संसार में देखा जाता है। नाशवान् पदार्थ में तो हर तरह का डर बना ही रहता है। अतः उसे पाकर कोई निडर कैसे हो सकता है ? ॥ ६६ ॥

हर संयोग की परिणति तो वियोग ही देखा जाता है। अतः यह निश्चय है कि किसी अन्य फल का संयोग अन्त में विनष्ट होना ही है ॥ ६७ ॥

अतः आत्मा से अलग यदि कोई फल रहता है, तो उससे बिछुड़ने का डर तो रहता ही है। आत्मा से अभिन्न मोक्ष रूप फल ही तो निडर कहलाता है। यहाँ पाकर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय एकरूप हो जाता है ॥ ६८-६९ ॥

हर तरह की संकल्प रहित स्थिति में अज्ञानशून्य ज्ञान का उदय होता है। इसी स्थिति में भयशून्य मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ७० ॥

अपना यह विशुद्ध रूप पहले किसी ज्ञाता को पता नहीं चलता। ऐसी स्थिति में गुरु और शास्त्र ही उपदेष्टा होते हैं और कुछ नहीं ॥ ७१ ॥

ज्ञेय का यही स्वरूप है। जब तक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद रहेगा तब तक वे कुछ नहीं हैं। जिस समय ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक भेद मिट जाता है, उसी क्षण ये अपने रूप में आते हैं और यही इस ज्ञान का फल भी माना गया है ॥ ७२-७३ ॥

ज्ञानादिफलपर्यन्तं न भेदो वस्तुतो भवेत् ॥ ७४ ॥
 व्यवहारप्रसिद्धार्थं भेदस्तत्र प्रकल्पितः ।
 अतः पूर्वं लभ्यमत्र फलं नास्त्येव किञ्चन ॥ ७५ ॥
 आत्मैव मायया ज्ञातृज्ञानज्ञेयफलात्मना ।
 यावद्भाति भवेत्तावत् संसारो ह्यचलोपमः ॥ ७६ ॥
 यथा कथञ्चिदेतत् भायाद्भेदविजितम् ।
 संसारो विलयं यायाच्छिन्नाभ्रमिव वायुना ॥ ७७ ॥
 एवंविधमहामोक्षे तत्परत्वं हि साधनम् ।
 तत्परत्वे तु सम्पूर्णं नान्यत् साधनमिष्यते ॥ ७८ ॥
 अपूर्णं तत्परत्वे तु किं सहस्रमुसाधनैः ।
 तस्मात् तात्पर्यमेव स्यान्मुख्यं मोक्षस्य साधनम् ॥ ७९ ॥
 तात्पर्यं सर्वथैतत् साधयामीति संस्थितिः ।
 यस्तात्पर्येण संयुक्तः सर्वथा मुक्त एव सः ॥ ८० ॥
 दिनैर्मासैर्वत्सरेर्वा मुक्तः स्याद्वाऽन्यजन्मनि ।
 बुद्धिर्नैर्मल्यभेदेन चिरशीघ्रव्यवस्थितिः ॥ ८१ ॥
 बुद्धौ तु बहवो दोषाः सन्ति सर्वार्थनाशनाः ।
 यैर्जनाः सततन्त्वेवं पच्यन्ते घोरसंसृतौ ॥ ८२ ॥

यथार्थ तो यह है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान से लेकर इनके फल तक कोई भेद है ही नहीं। केवल व्यवहार की सिद्धि के लिए ही इनमें भेद की कल्पना की गई है। अतः इस भेद-कल्पना से पहले पाने योग्य कोई फल है ही नहीं ॥ ७४-७५ ॥

सांसारिक माया के कारण जब तक यह आत्मा ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान और फल के रूप में दीख रही है तब तक यह दुनिया राह रोके पहाड़ की तरह खड़ी है ॥ ७६ ॥

किन्तु किसी तरह यह आत्मा यदि भेदहीन दिखलाई पड़ने लगे तो हवा के झोंके से तितर-बितर किये गये बादल की तरह यह दुनिया विलीन हो जाती है ॥ ७७ ॥

इस तरह संसार से मुक्ति पाने के लिए तत्परता ही मुख्य साधन है। यदि पूरी तत्परता हो तो फिर किसी दूसरे साधन की कोई जरूरत नहीं है ॥ ७८ ॥

यदि पूरी तत्परता न हो तो हजारों दूसरे साधनों से भी कोई फायदा नहीं है। अतः तत्परता ही मुक्ति का प्रमुख साधन है ॥ ७९ ॥

“जैसे भी होगा मैं इस काम को अवश्य ही पूरा करूँगा” इस स्थिति का नाम ही तत्परता है। जिसके पास ऐसी तत्परता है वह हर तरह से जीवन्मुक्त है ॥ ८० ॥

ऐसे लोग कुछ दिनों में, महीनों, सालों या जन्मान्तरों में मुक्त हो ही जायेंगे। बुद्धि की निर्मलता के भेद से ही उसके शीघ्र या देर से मुक्त होने की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥ ८१ ॥

बुद्धि में हर तरह के पुरुषार्थ को विनष्ट करने की ताकत होती ही है। इसी

तत्राद्यः स्यादनाश्वासो द्वितीयः कामवासना ।
 तृतीयो जाड्यता प्रोक्ता त्रिधैव दोषसङ्ग्रहः ॥ ८३ ॥
 द्विविधः स्यादनाश्वासः संशयश्च विपर्ययः ।
 मोक्षोऽस्ति नास्ति वेत्याद्यः संशयः समुदाहृतः ॥ ८४ ॥
 नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो भवेदत्र विपर्ययः ।
 एतद् द्वयन्तु तात्पर्यं मुख्यं स्यात् प्रतिबन्धकम् ॥ ८५ ॥
 विपरीतनिश्चयेन नश्येदेतद् द्वयं क्रमात् ।
 अत्रोपायो मुख्यतमो मूलच्छेदो न चापरः ॥ ८६ ॥
 अनाश्वासस्य मूलन्तु विरुद्धतर्कचिन्तनम् ।
 तत्परित्यज्य सत्कर्तव्यत्तनस्य प्रसाधने ॥ ८७ ॥
 विपरीतो निश्चयः स्यान्मूलच्छेदनपूर्वकः ।
 ततः श्रद्धासमुदयादनाश्वासः प्रणश्यति ॥ ८८ ॥
 कामादिवासना बुद्धेः श्रवणे प्रतिबन्धिका ।
 कामादिवासनाविष्टा बुद्धिर्नैव प्रवर्तते ॥ ८९ ॥
 लोकेऽपि कामी काम्यस्य सदा ध्यानैकतत्परः ।
 पुरःस्थितं न पश्येच्च श्रोत्रोक्तं शृणुयान्न च ॥ ९० ॥

मुक्ति के वात्याचक्र में फँसकर लोग जन्म-मरण रूपी भयंकर संसार की आग में जलते रहते हैं ॥ ८२ ॥

इनका पहला दोष है—अविश्वास । दूसरा दोष है—कामवासना और तीसरा दोष है—जड़ता । मुख्यतः इसके ये तीन दोष हैं ॥ ८३ ॥

अविश्वास दो तरह के हैं—संशय और विपर्यय । मोक्ष नाम की कोई वस्तु है या नहीं ? यह पहला संशयदोष है ॥ ८४ ॥

मुक्ति नाम की कोई वस्तु है ही नहीं—ऐसी मान्यता विपर्ययदोष है । ये दोनों दो तरह के दोष तत्परता के प्रमुख बाधक हैं ॥ ८५ ॥

इनके विपरीत निश्चय करने पर ये दोनों दोष अपने-आप मिट जाते हैं । किन्तु इनके रोकने का प्रमुख उपाय तो इनका समूल विनाश ही है कोई और नहीं ॥ ८६ ॥

अविश्वास का मूल कारण है—शास्त्र-विरुद्ध तर्कों का सहारा । इसे छोड़कर यदि शास्त्रानुमोदी तर्कों का सहारा लिया जाय तो विपरीत निश्चय की जड़ खोदकर उसे मिटाया जा सकता है । श्रद्धा जगते ही अविश्वास स्वतः मिट जायेगा ॥ ८७-८८ ॥

कामवासना बुद्धि के श्रवण में रुकावट डालनेवाली होती है । क्योंकि जिस बुद्धि में कामवासना होती है, उसमें सात्त्विक भावना नहीं होती है ॥ ८९ ॥

लोकव्यवहार में भी ऐसा देखा जाता है कि कामनाशील व्यक्ति जब अपनी काम्य वस्तु में लीन रहता है तब उसे न तो सामने रखी वस्तु दीखती है और न उसे कान में कही बात ही सुनाई पड़ती है ॥ ९० ॥

कामादिवासितस्यैवं श्रुतं चाश्रुतसम्मितम् ।
 कामादिवासनां तस्माज्जयेद्वैराग्यसम्पदा ॥ ९१ ॥
 सन्ति कामक्रोधमुखा वासनास्तु सहस्रशः ।
 तत्र कामो मूलभूतस्तन्नाशे न हि किञ्चन ॥ ९२ ॥
 ततो वैराग्यसंयोगान्नाशयेत् कामवासनाम् ।
 आशा हि कामः सम्प्रोक्त एतन्मे स्यादिति स्थिता ॥ ९३ ॥
 शक्येषु स्थूलभूता सा सूक्ष्माऽशक्येषु संस्थिता ।
 दृढवैराग्ययोगेन सर्वा तां प्रविनाशयेत् ॥ ९४ ॥
 तत्र मूलं काम्यदोषपरामर्शः प्रतिक्षणम् ।
 वैमुख्यं विषयेभ्यश्च वासना नाशयेदिति ॥ ९५ ॥
 यस्तृतीयो बुद्धिदोषो जाड्यरूपो व्यवस्थितः ।
 असाध्यः सोऽभ्यासमुखैः सर्वथा ऋषिसत्तमाः ॥ ९६ ॥
 येन तात्पर्यतश्चापि श्रुतं बुद्धिमनारुहेत् ।
 तज्जाड्यं हि महान् दोषः पुरुषार्थविनाशनः ॥ ९७ ॥
 तत्रात्मदेवतासेवामृते नान्यद्भि कारणम् ।
 सेवायास्तारतम्येन जाड्यं तस्य हराम्यहम् ॥ ९८ ॥

कामवासना से जिसका मन कलुषित रहता है, वह शास्त्रवचन सुनकर भी अनमुनी कर देता है । ऐसी स्थिति में विरक्ति-भावना से इस प्रवृत्ति पर विजय पानी चाहिए ॥ ९१ ॥

काम, क्रोध आदि वासनाएँ तो हजारों हैं; इनकी जड़ तो काम ही है । इन्हें विनष्ट कर देने पर अन्य दूसरी वासना स्वतः मिट जाती है ॥ ९२ ॥

अतः विरक्ति की भावना से कामवासना को विनष्ट करना चाहिए । आशा का ही दूसरा नाम काम है । मनुष्य के मन में—‘मुझे यह मिल जाय’ इस रूप में यह हमेशा मौजूद रहती है ॥ ९३ ॥

जो वस्तु मिल सकती है उसमें वह स्थूल रूप से रहती है और जो नहीं मिल सकती उनमें वह सूक्ष्म रूप से रहती है । ऐसी हर तरह की आशा को दृढ़ विरक्ति से विनष्ट कर देना चाहिए ।

ऐसी साधना की जड़ है—हर पल काम्यवस्तुओं में दोषदृष्टि रखना । विषयों के प्रति विमुखता ही वासना को विनष्ट कर देती है ॥ ९५ ॥

मुनियो ! तीसरा दोष है—बुद्धि की जड़ता । इसे अभ्यास के द्वारा मिटाना तो बिलकुल असंभव है ॥ ९६ ॥

इसी जड़ता के कारण तत्पर होकर सुनी गई बातें भी बुद्धि में समा नहीं पाती । मनुष्य के सभी पुरुषार्थों को जड़ता बिलकुल व्यर्थ कर देती है ॥ ९७ ॥

इससे छुटकारा मिलने का उपाय आत्मदेव की उपासना के अतिरिक्त और कुछ

जाड्याल्पानल्पभावेन सद्यो वा परजन्मनि ।
 भवेत्तस्य फलप्राप्तिर्जाड्यसंयुक्तचेतसः ॥ ९९ ॥
 सर्वसाधनसम्पत्तिर्ममैव प्रणिधानतः ।
 उपयाति च यो भक्त्या सर्वदा मामकैतवात् ॥ १०० ॥
 स साधनप्रत्यनीकं विधूयाशु कृती भवेत् ।
 यस्तु मामीश्वरीं सर्वबुद्धिप्रसरकारिणीम् ॥ १०१ ॥
 अनादृत्य साधनैकपरः स्यान्मूढभावतः ।
 पदे पदे विहन्येत फलं प्राप्येत वा न वा ॥ १०२ ॥
 तस्मात्तु ऋषयो मुख्यं तात्पर्यं साधनं भवेत् ।
 एवं तात्पर्यवानेव साधकः परमः स्मृतः ॥ १०३ ॥
 तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु साधकः सर्वपूजितः ।
 सिद्धिरात्मव्यवसितिर्देहनात्मत्वभावना ॥ १०४ ॥
 आत्मत्वभावनं नूनं शरीरादिषु संस्थितम् ।
 तदभावनमात्रञ्च सिद्धिर्मातृविवर्जितम् ॥ १०५ ॥
 आत्मा व्यवसितः सर्वैरपि नो केवलात्मना ।
 अत एव तु सम्प्राप्ता महानर्थपरम्परा ॥ १०६ ॥

हे ही नहीं। साधक की उपासना के अनुसार कम या ज्यादा उसकी जड़ता मैं दूर करती हूँ ॥ ९८ ॥

जड़ चित्तवाले साधक को उसकी कम या ज्यादा जड़ता के अनुसार इसी या अगले जन्म में फल मिल जाता है ॥ ९९ ॥

हर तरह के साधनों की पूर्णता मेरी उपासना से ही होती है। जो हमेशा निश्चल भाव से भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करता है, वह साधना के समस्त विघ्नों को पार कर निहाल हो जाता है ॥ १०० ॥

इस ओर सबकी बुद्धि को मैं प्रेरित करती हूँ। अपनी जड़बुद्धि के कारण जो मेरा अनादर कर साधन में लग जाता है, वह पग-पग पर ठोकर खाता है। उसे फल मिल भी जाता है और नहीं भी मिलता है ॥ १०१-१०२ ॥

अतः हे तापसी ! मुख्य साधन तो तत्परता ही है, अतः तत्पर साधक ही श्रेष्ठ साधक माना गया है। इनमें भी जो साधक मेरा भक्त है, वह सबका आदरणीय होता है ॥ १०३ ॥

देह को आत्मा समझने की भूल का अभाव और अपनी आत्मा में ठहराव ही तो सिद्धि है। देहादि में जो आत्मबुद्धि होती है, उसकी कमी ही अज्ञानरहित सिद्धि है ॥ १०४-१०५ ॥

मैं कौन हूँ ? इसका सबको सही ज्ञान नहीं होने के कारण ही जन्म-मरणरूपी महान् इस अनर्थ की परम्परा मिली है ॥ १०६ ॥

तस्मात् केवलचिन्मात्रं यद्देहाद्यवभासकम् ।
 तन्मात्रात्मव्यवसितिः सर्वसंशयनाशिनी ॥ १०७ ॥
 सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञैर्नतः सिद्धिरनन्तरा ।
 सिद्धयः खेचरत्वाद्या अणिमाद्यास्तथैव च ॥ १०८ ॥
 आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।
 ताः सर्वास्तु परिच्छिन्नाः सिद्धयो देशकालतः ॥ १०९ ॥
 इयं स्यादपरिच्छिन्ना स्वात्मविद्या शिवात्मिका ।
 स्वात्मविद्यासाधनेषु ताः सर्वाः सुप्रतिष्ठिताः ॥ ११० ॥
 आत्मविद्याविधावेतास्त्वन्तरायप्रयोजकाः ।
 किं ताभिरिन्द्रजालात्मसिद्धितुल्याभिरीहितम् ॥ १११ ॥
 यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदमपि स्यात्तृणसम्मितम् ।
 कियन्त्येताः सिद्धयो वै कालक्षणहेतवः ॥ ११२ ॥
 तस्मात् सिद्धिर्नेतरा स्यादात्मविज्ञानसिद्धितः ।
 ययाऽप्यन्तशोकनाशो भवेदानन्दसान्द्रता ॥ ११३ ॥
 सैव सिद्धिर्नेतरा तु मृत्युप्राप्तविमोचिनी ।
 इयमात्मज्ञानसिद्धिविविधाभ्यासभेदतः ॥ ११४ ॥
 बुद्धिर्नैर्मल्यभेदाच्च परिपाकविभेदतः ।
 सङ्क्षेपतस्तु त्रिविधा चोत्तमा मध्यमाऽधमा ॥ ११५ ॥

अतः यह विशुद्ध चित्ति, जिसमें सारी दुनिया प्रतिबिम्बित है; उसी रूप में अपनी आत्मा को भी समझना ही सभी सन्देशों को मिटा देना है । इसी स्थिति को विज्ञजनों ने सिद्धि कहा है । इसके अलावा आकाश में घूमना या अणिमादि सिद्धियाँ वास्तविक सिद्धि नहीं हैं ॥ १०७-१०८ ॥

ये सभी सिद्धियाँ तो देश और काल से परिसीमित हैं । अतः ये आत्मज्ञान रूप सिद्धि के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हैं ॥ १०९ ॥

यह शिवस्वरूपा आत्मविद्या तो असीमित है । ये सब तो आत्मज्ञान के साधन करते-करते स्वयं ही आ जाती हैं ॥ ११० ॥

किन्तु ये आत्मज्ञान की प्राप्ति में बाधा डालनेवाली है । भला जिज्ञासुओं के जादूगर की जादूगरी जैसी इन सिद्धियों से क्या लेना-देना है ? ॥ १११ ॥

जिनकी दृष्टि में 'ब्रह्मपद' भी तिनके के समान है, उनके लिए केवल समय काटने में उपयोगी इन सिद्धियों का क्या मूल्य है ? ॥ ११२ ॥

अतः आत्मविज्ञान रूप सिद्धि से बढ़कर और कोई सिद्धि नहीं है, जिससे शोक का बिलकुल विनाश और आनन्दघनता मिल जाती है ॥ ११३ ॥

यही सिद्धि काल के गाल से भी बचानेवाली है । अभ्यास, पवित्र बुद्धि और ज्ञान की पुष्टि के तारतम्य से यह आत्मज्ञानरूपा सिद्धि अनेक तरह की है । किन्तु

लोके द्विजानामृषयः पठिता श्रुतिसम्मिता ।
 मेधया च महाभ्यासाद्व्यापारशतसङ्कुला ॥ ११६ ॥
 अप्यस्खलितवर्णा या पठिता श्रुतिरुत्तमा ।
 समाहितस्य व्यापारेऽसमाहितस्य चान्यदा ॥ ११७ ॥
 पूर्ववद्याप्यस्खलिता पठिता मध्यमा श्रुतिः ।
 या सदा ह्यनुसन्धानयोगादेव भवेत्तथा ॥ ११८ ॥
 पठिता श्रुतिरत्यन्तास्खलिता मध्यमा हि सा ।
 एवमेवात्मविज्ञानसिद्धिरुक्ता त्रिधर्षयः ॥ ११९ ॥
 या महाव्यवहारेषु प्रतिसन्धानवर्जने ।
 अन्यदा तद्वर्जने वा सर्वदा प्रतिसन्धितः ॥ १२० ॥
 अन्यूनाधिकभावा स्यात् सोत्तमा मध्यमाऽधमा ।
 अत्रोत्तमैव संसिद्धेः पराकाष्ठा निरूपिता ॥ १२१ ॥
 स्वप्नादिष्वप्यवस्थासु यदा स्यात् परमा स्थितिः ।
 विचारक्षणतुल्येव सिद्धिः सा परमोत्तमा ॥ १२२ ॥
 सर्वत्र व्यवहारेषु यत्नात् संस्कारबोधतः ।
 यदा प्रवृत्तिसिद्धेः सा पराकाष्ठा समीरिता ॥ १२३ ॥

लोक में ब्राह्मण द्वारा पढ़ी हुई श्रुति की तरह यह तीन तरह की है—उत्तम, मध्यम और अधम ॥ ११४-११५३ ॥

बुद्धि की प्रखरता और अत्यन्त अभ्यास के कारण जिस श्रुति के पाठ में सैकड़ों व्यापारों के रहते हुए वर्ण या स्वर में अन्तर नहीं आता, वह उत्तम श्रुति है ॥ ११६३ ॥

पाठ के समय सावधान रहने पर, दूसरे समय असावधान रहने पर भी जो पहले ही की तरह बिना फिसले पढ़ा जा सके, वह मध्यम श्रुति है ॥ ११७३ ॥

जो हमेशा प्रयासपूर्वक ही पढ़ी जाय और पाठ में अनेक भूलें भी हों, वह अधम श्रुति कहलाती है ॥ ११८३ ॥

मुनियो ! इसी तरह आत्मविज्ञान की सिद्धि भी तीन तरह की कही गई है । जो अधिक व्यवहृत होने पर या बिना प्रयास के भी रहती है वह उत्तम; जो व्यापार के बिना भी स्वभावसिद्ध है वह मध्यम; और जो हमेशा अत्मानुसंधान करते रहने पर ही कम या বেশी भाव से मिलती है, वह अधम सिद्धि है । इनमें उत्तम सिद्धि की ही पराकाष्ठा मानी गई है ॥ ११९-१२१ ॥

जब सपने में भी जगे हुए की तरह ही उत्तम स्थिति बनी रहे तब वह सिद्धि परम उत्कृष्ट मानी गई है ॥ १२२ ॥

जब पहले के संस्कार जगने पर हर तरह के व्यवहार में प्रयत्न करने पर गति जग जाती हो तो उसे हम सिद्धि की पराकाष्ठा कहते हैं ॥ १२३ ॥

अयत्नेनैव परमे स्थितिः संवेदनात्मनि ।
 अव्याहता यदा सिद्धिस्तदा काष्ठा समागता ॥ १२४ ॥
 व्यवहारपरो भावान् पश्यन्नपि न पश्यति ।
 द्वैतं तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२५ ॥
 जागरादौ व्यवहरन्नपि निदितवद्यदा ।
 स्थितिस्तदा हि सा सिद्धिः पूर्णतामभिसङ्गता ॥ १२६ ॥
 एवं सिद्धिमनुप्राप्तः सिद्धेषूत्तम उच्यते ।
 व्यवहारपरो नित्यं न समाधिं विमुञ्चति ॥ १२७ ॥
 कदाचिदपि मेधावी स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 ज्ञानिनां विविधानां च स्थितिं जानाति सर्वदा ॥ १२८ ॥
 स्वानुभूत्या स्वान्तरेव स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 संशयो वापि कामो वा यस्य नास्त्येव लेशतः ॥ १२९ ॥
 निर्भयो व्यवहारेषु स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 सर्वं सुखञ्च दुःखञ्च व्यवहारञ्च जागतम् ॥ १३० ॥
 स्वात्मन्येवाभिजानाति स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 अत्यन्तं बद्धमात्मानं मुक्तञ्चापि प्रपश्यति ॥ १३१ ॥
 यः स्वात्मनि तु सर्वात्मा स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 यः पश्यन् बन्धजालानि सर्वदा स्वात्मनि स्फुटम् ॥ १३२ ॥

बिना प्रयास ही ज्ञानस्वरूप परमतत्त्व में निरन्तर ठहराव मिल जाय तो सिद्धि की पराकाष्ठा हो जाती है ॥ १२४ ॥

कामकाज में लगे रहने पर भी जब अनेक वस्तुओं को देखने के बावजूद वे दिखलाई न पड़े तो वैसी स्थिति में उत्तमा सिद्धि अपनी पूर्णता को पा लेती है । जने रहने पर कामकाज करते समय जब सपने की अनुभूति हो तब सिद्धि की पूर्णता जाननी चाहिए । ऐसी सिद्धि प्राप्त पुरुष सिद्धों में श्रेष्ठ कहलाता है ॥ १२५-१२६ ॥

लगातार कामकाज में लगे रहने पर भी जो कभी समाधि को नहीं छोड़ता, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२७ ॥

अपने अनुभव के द्वारा जो अपनी ही तरह अन्य ज्ञानियों की स्थितियों को जब चाहे जान लेता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना जाता है ॥ १२८ ॥

जिसके मन में थोड़ी भी कामना या संशय नहीं है और कामकाज में किसी तरह का डर नहीं है, वह व्यक्ति सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १२९ ॥

सभी सुख, दुःख और दुनियादारी को जो अपनी आत्मा में ही प्रतिबिम्बित देखता है, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३० ॥

अत्यन्त बद्ध या मुक्त पुरुष को जो अपनी आत्मा में प्रतिभासित देखता है, वह सर्वात्मा सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३१ ॥

मोक्षं नापेक्षते क्वापि स सिद्धेषूत्तमो मतः ।
 सिद्धोत्तमोऽहमेवेह न भेदस्त्वावयोः क्वचित् ॥ १३३ ॥
 एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं मुस्पष्टमनुयुक्तया ।
 एतन्मयोक्तं विज्ञाय न क्वचित् परिमुह्यते ॥ १३४ ॥
 इत्युक्ता सा परा विद्या विरराम भृगूद्वह ।
 श्रुत्वैतदृषयः सर्वे सन्देहमपहाय च ॥ १३५ ॥
 नत्वा शिवादीन् लोकेशान् जग्मुः स्वं स्वं निवेशनम् ।
 विद्यागीता मयैषा ते प्रोक्ता पापीघनाशिनी ॥ १३६ ॥
 श्रुता विचारिता सम्यक् स्वात्मसाम्राज्यदायिनी ।
 विद्यागीताऽप्युत्तमेयं साक्षाद्विद्या निरूपिता ॥ १३७ ॥
 एठतां प्रत्यहं प्रीता ज्ञानं दिशति सा स्वयम् ।
 संसारतिमिराम्भोधी मज्जतां तरणिर्भवेत् ॥ १३८ ॥
 इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे विद्यागीता नाम विंशोऽध्यायः ।

समस्त बन्धनों को अपनी आत्मा में ही सदैव प्रतिभासित देखकर जिनसे कभी मुक्ति की इच्छा भी नहीं होती, वह सिद्धों में श्रेष्ठ माना गया है ॥ १३२ ॥

अधिक क्या, वह श्रेष्ठ सिद्ध मैं ही हूँ । मुझमें उससे कभी कोई अन्तर नहीं है । मुनियो ! मैंने तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर दे दिया । मेरे कथन का अभिप्राय ठीक से समझ लेने पर फिर मोह होता ही नहीं ॥ १३३-१३४ ॥

हे परशुराम ! इतना बोलकर वह पराविद्या मौन हो गई । उसका उपदेश सुनकर सभी ऋषियों का सन्देह दूर हो गया । शिवसहित देवताओं को प्रणाम कर वे सभी अपनी-अपनी जगह लौट गये ॥ १३५ ॥

यह मैंने तुम्हें समस्त पापों को विनष्ट करनेवाली विद्यागीता सुनायी । इस पर यदि ठीक ढंग से श्रवण-मनन किया जाय तो उसे अपने आत्मानन्द का साम्राज्य मिल जाय ॥ १३६ ॥

प्रत्यक्ष विद्यादेवी द्वारा प्रतिपादित यह विद्यागीत है । जो आदमी इसका प्रतिदिन पाठ करते हैं, उन पर विद्यादेवी प्रसन्न होकर उन्हें ज्ञानदान देती हैं । इस संसाररूप अन्धकार के समूह में डूबनेवालों के लिए यह सूर्य या नौका के समान है ॥ १३७-१३८ ॥

विशेष—इस श्लोक में 'तरणि' शब्द का शिल्प प्रयोग है । कोषगत इसका अर्थ सूर्य और नौका दोनों ही है । यहाँ सागर में डूबने से बचाने के लिए नौका तथा अन्धकार में डूबने से बचाने के लिए सूर्य अर्थ का शिल्प प्रयोग सूचयुक्त है ।

बीसवाँ अध्याय समाप्त ।

एकविंशोऽध्यायः

श्रुत्वेत्थं भार्गवो रामो दत्तात्रेयमुनीरितम् ।
 अविद्याजालविभ्रान्तेर्मुक्तप्रायो बभूव ह ॥ १ ॥
 पुनः पप्रच्छाऽत्रिसुतं किञ्चिन्नत्वा सुभक्तितः ।
 भगवन् ब्रूहि विज्ञानसाधनं सुविनिश्चितम् ॥ २ ॥
 सारभूतञ्च सुलभं यत् साक्षात् फलदायकम् ।
 ज्ञानिनां लक्षणञ्चापि येन ज्ञास्यामि तान् द्रुतम् ॥ ३ ॥
 ज्ञानिनां देहसंयोगे वियोगे च स्थितिं यथा ।
 व्यवहारं कुर्वतां चाप्यनासक्तं मनः कथम् ॥ ४ ॥
 एतत् सर्वं सुकृपया स्पष्टं मे वक्तुमर्हसि ।
 एवमत्रिसुतः पृष्टो जमदग्निमुतेन वै ॥ ५ ॥
 सन्तुष्टः प्राह करुणासिन्धुः सम्बोध्य भार्गवम् ।
 शृणु राम प्रवक्ष्यामि रहस्यं ज्ञानसाधनम् ॥ ६ ॥
 ज्ञानस्य साधनं मुख्यं देवतानुग्रहः परः ।
 यः सर्वभावतः स्वात्मदेवतामुपसङ्गतः ॥ ७ ॥
 तस्य ज्ञानं सुसुलभं भवतीति विनिश्चयः ।
 एतत् सर्वोत्तमं राम प्रोक्तं ज्ञानस्य साधनम् ॥ ८ ॥

(ज्ञान के प्रमुख साधन, ज्ञानियों के लक्षण तथा हेमाङ्गद
 एवं ब्रह्मराक्षस का संवाद)

इस तरह परशुरामजी गुरु दत्तात्रेय का उपदेश सुनकर अविद्याजालरूपी संशय से प्रायः मुक्त हो गये ॥ १ ॥

अतिविनत भाव से भक्तिपूर्वक गुरु दत्तात्रेय को प्रणाम कर उन्होंने फिर पूछा— भगवन् ! ज्ञान पाने के लिए बिलकुल निर्णीत एवं पक्का साधन क्या है ? यह समझा दें । वह साधन सुलभ हो और मोक्षरूपी फल देनेवाला हो । ज्ञानियों को देखते ही मैं पहचान लूँ; इसके लिए उनका लक्षण भी बतलाने का कष्ट करें ॥ २-३ ॥

देह के साथ लगाव या अलगाव में उनकी हालत कैसी रहती है ? कामकाज करते समय भी उनका मन उनसे लिप्त क्यों नहीं होता ? ये सभी बातें कृपया मुझे साफ-साफ समझा दें ॥ ४-५ ॥

परशुरामजी का यह प्रश्न सुनकर दयालु गुरु दत्तात्रेयजी ने काफी प्रसन्न होकर कहा— सुनो परशुराम ! मैं तुम्हें ज्ञान का गुप्त साधन बतलाता हूँ ॥ ५-६ ॥

परमात्मा का परम अनुग्रह ही ज्ञान का प्रमुख साधन है । जो आदमी पूरी

अन्यानपेक्षमेतत् फलसंसाधने क्षमम् ।
 एतद्विहायान्यदत्र न सम्यक् फलदं भवेत् ॥ ९ ॥
 शृण्वत्र कारणं राम सकारणमिदं भवेत् ।
 विज्ञानं केवलचित्तिर्या सर्वस्यावभासिका ॥ १० ॥
 तस्यावभासरूपायाः कल्पितावरणन्तु यत् ।
 विचारात् तदपोहेन तत् स्वरूपोपलक्षणम् ॥ ११ ॥
 तच्चान्येषां बहिर्भावतत्पराणां सुदुर्लभम् ।
 भक्तानामन्यपरताद्दानेन तत्परत्वतः ॥ १२ ॥
 सुलभं शीघ्रसम्प्राप्यं भवत्येव मुनिश्चितम् ।
 देवतातत्परस्त्वेव भूत्वा स्वल्पान्यसाधनः ॥ १३ ॥
 ज्ञात्वा कथञ्चिदात्मानमन्यात् प्रति निरूपयेत् ।
 निरूपयन् सदा राम समावेशं समाप्नुयात् ॥ १४ ॥
 एवं निरूपणाद्यैस्तु समावेशे दृढे सति ।
 शिवतामाप्य तच्चित्तं हर्षोद्वेगविवर्जितम् ॥ १५ ॥

लगन के साथ इस आत्मदेव की शरण में जाता है, उसके लिए ज्ञान गुलब हो जाता है—यह तथ्य-निर्णीत है। अतः हे परशुराम ! ज्ञान का परमोत्कृष्ट साधन यही है ॥ ७-८ ॥

किसी दूसरे साधन की सहायता के बिना ही यह साधन ज्ञान का फल दिलाने में सक्षम है और यदि यह न हो तो दूसरा कोई साधन ठीक-ठीक फल नहीं दिला सकता है ॥ ९ ॥

हे परशुराम ! इसकी वजह सुनो, यह बात बेवजह नहीं है। दरअसल ज्ञान अपने आप में शुद्धचेतन ही है। यह तो सबका प्रकाशक है ॥ १० ॥

इस चेतन का स्वरूप प्रकाश है। यह प्रकाश एक नकली ढक्कन से ढका है। इस पर विचार करते ही इसका नकली आवरण हट जाता है और असली रूप साफ झलकने लगता है ॥ ११ ॥

किन्तु दूसरे साधकों को, जो दुनियादारी में लगे रहते हैं, ऐसा होना बड़ा कठिन है। भक्तों को भगवान् के सिवा और किसी से तो लगाव होता ही नहीं। अतः उन्हें यह फल बड़ी आसानी से मिल जाता है—यह बात बिलकुल निश्चित है ॥ १२ ॥

पर जो परमात्मा में दिन-रात लगे हैं, वे यदि वैराग्य जैसे दूसरे साधनों का भी थोड़ा सहारा लेकर उस परमतत्त्व से परिचित होकर दूसरे साधकों के सामने लगातार उसका बखान करें तो निश्चय ही वे परमात्मा की तरह हो जायेंगे ॥ १३-१४ ॥

इस तरह परमात्मा के सम्बन्ध में विवेचनापूर्वक निश्चय करते हुए जब उसकी समानता पक्की हो जाय तब उन्हें शिवत्व मिल जाता है। वे दुःख और सुख से परे हो

यत्र यत्र व्रजति तत् सर्वं तच्छिवसात्कृतम् ।
 करोत्युत्तमविज्ञानी जीवन्मुक्तपदस्थितः ॥ १६ ॥
 तस्मात् सुभक्तियोगेनान्येभ्यो भूयो निरूपणम् ।
 श्रेष्ठं साधनमेतत्तु नान्यदेतत्समं भवेत् ॥ १७ ॥
 भक्त्या निरूपणसमं न भवेदन्यसाधनम् ।
 जानिनां लक्षणं राम दुर्विज्ञेयं भवेत् खलु ॥ १८ ॥
 यतः सर्वान्तरं तत्तु नेत्रवागाद्यगोचरम् ।
 न निरूपयितुं शक्यं लक्षितुं वा परैः क्वचित् ॥ १९ ॥
 यथा शास्त्रज्ञता लोके त्वन्यैर्न ज्ञायते क्वचित् ।
 देहवस्त्रभूषणाद्यैरेवमन्यैर्न वेद्यते ॥ २० ॥
 विद्वत्ता हि स्वसंवित्तिमात्रवेद्या न चान्यथा ।
 यथा संस्वादितरसरसज्ञत्वं हि भार्गव ॥ २१ ॥
 तथापि चतुरैर्विद्यावद्भिस्तद्भाषणादिभिः ।
 वेद्यते हि यथा स्वस्य मार्गः सूक्ष्मपिपीलकैः ॥ २२ ॥
 सन्ति स्थूललक्षणानि त्वनेकान्तानि तानि तु ।
 सूक्ष्मलक्ष्माणि चान्यानि दुर्विज्ञेयानि वै परैः ॥ २३ ॥

जाते हैं । ऐसे लोग जहाँ कहीं भी जाते हैं वहाँ शिवमय कर देते हैं । ऐसे ज्ञानी उत्कृष्ट होते हैं और जिन्दा रहकर भी जीवन्मुक्त बन जाते हैं ॥ १५-१६ ॥

भक्तिभाव से दूसरे जिज्ञासुओं के सामने बार-बार आत्मतत्त्व का विवेचन करना ही श्रेष्ठ साधन है । इसके समान और कोई दूसरा साधन है ही नहीं । सचमुच भक्तिपूर्वक इस आत्मतत्त्व का विवेचनापूर्वक निश्चय करने से बढ़कर और कोई साधन नहीं है ॥ १७-१८ ॥

परशुराम ! रही बात ज्ञानियों के लक्षण की, सो इसे जानना तो बड़ा ही कठिन है । इसका असली रूप तो भीतरी है । इसे न तो आँखों से देखा जा सकता है और न ही यह इन्द्रियों की पकड़ में आनेवाला है । दूसरा कोई इसका न तो विवेचन कर सकता है और न दर्शन ही ॥ १८-१९ ॥

जैसे किसी की देह कैसी है ? उसके कपड़े और जेवर कैसे हैं ? यह जाना जा सकता है, उसी तरह उसका शास्त्र-ज्ञान तो नहीं जाना सकता; ठीक उसी तरह किसी के ज्ञान की थाह पाना संभव नहीं है ॥ २० ॥

शरबत की मिठास की अनुभूति तो जैसे शरबत पीनेवाले को ही होती है, उसी तरह तत्त्वज्ञता की अनुभूति आत्मा को ही होती है, दूसरे को नहीं ॥ २१ ॥

फिर भी नन्हीं-नन्हीं चिटियाँ जैसे अपनी राह आप खोज लेती हैं, उसी तरह चतुर विद्वान् पुरुष ज्ञानियों की बातें सुनकर उन्हें पहचान ही लेते हैं ॥ २२ ॥

इनमें कई स्थूल लक्षण बतलाये गये हैं, किन्तु वे लक्षण केवल इन्हीं में हो ऐसी

निरूपणं भाषणञ्च साधनाभिनयस्तथा ।
 ज्ञानिनामिव चान्यैस्तु कर्तुं शक्यो हि लक्ष्यते ॥ २४ ॥
 अनिमलान्तःकरणैरभ्यस्तं ज्ञानसाधनम् ।
 स्थिरीभवति यत्तेषां लक्षणं तत् प्रकीर्तितम् ॥ २५ ॥
 यस्य मानावमानौ च लाभालाभौ जयाजयौ ।
 नेषद्विशेषितुं शक्ती विद्यात्तं ज्ञानिषूत्तमम् ॥ २६ ॥
 स्वात्मानुभववात्सिमु पृष्टो गूढार्थमप्युत ।
 असन्दिग्धः प्रतिबदेज्जटिति ज्ञानिषूत्तमः ॥ २७ ॥
 यस्योत्साहो भवेज्ज्ञानं वात्सवित्तरां किल ।
 निरूपणे ह्यवैमुख्यं ज्ञानिनो लक्षणं हि तत् ॥ २८ ॥
 अनारम्भः स्वभावेन सन्तोषः शुचिचित्ता ।
 महापत्स्वपि शान्तात्मा स भवेज्ज्ञानिषूत्तमः ॥ २९ ॥
 एतदादीनि लक्ष्माणि भार्गवोत्तमाज्ञनिनाम् ।
 स्वात्मनस्तु परीक्षायां सुस्थिराणि न संशयः ॥ ३० ॥
 साधकस्तु सदा स्वात्मपरीक्षातत्परो भवेत् ।
 यथा परीक्षणेऽन्यस्य निपुणः सम्प्रवर्तते ॥ ३१ ॥

बात नहीं है । इसी तरह अनेक सूक्ष्म लक्षण भी इनमें हैं, किन्तु दूसरे लोग इन्हें जान नहीं पाते ॥ २३ ॥

इस तरह देखने में आता है कि ज्ञानियों की तरह निरूपण, भाषण एवं साधनों का नाटक दूसरे लोग भी कर सकते हैं ॥ २४ ॥

जिनका भीतरी मन पवित्र नहीं है, ऐसे लोग भी यदि ज्ञान के किसी साधन का अभ्यास करते हैं तो वे उनमें स्थिर हो जाते हैं और वही उनका लक्षण बन जाता है ॥ २५ ॥

जिनके मन में मान-अपमान, हानि-लाभ, हार-जीत में कोई फर्क नहीं पड़ता वे उत्तम ज्ञानी माने गये हैं ॥ २६ ॥

अपनी आत्मा के बारे में यदि कोई कठिन सवाल पूछे और उसका सही निश्चित जवाब उसी क्षण कोई दे दे, तो वह ज्ञानियों में उत्तम है ॥ २७ ॥

ज्ञान की चर्चा में जिसकी रुचि हो, उसकी विवेचना में जो पीछे न हटे—यह भी उस व्यक्ति के ज्ञानी होने का ही लक्षण है ॥ २८ ॥

स्वभाव से ही किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति मन का लगाव न हो, मन में सन्तोष हो, हृदय से पवित्र हो, गाढ़ी विपत्ति में भी घबड़ाने की अपेक्षा शान्त रहे, वह ज्ञानियों में उत्तम है ॥ २९ ॥

परशुराम ! ज्ञानियों के कुछ ऐसे और भी लक्षण हैं । किन्तु इतना निश्चित है कि वे अपनी परीक्षा में सुस्थिर हैं ॥ ३० ॥

तथा परीक्षन् स्वात्मानं सिद्धिं न कथमाप्नुयात् ।
 यदान्यगुणदोषाणामविचारणतत्परः ॥ ३२ ॥
 स्वीयानां गुणदोषाणां विचारपरमो भवेत् ।
 तदा सर्वसाधनानां प्राप्या सिद्धिमुपेक्ष्यति ॥ ३३ ॥
 एवं प्रोक्तानि लक्ष्माणि ज्ञानिनां भृगुनन्दन ।
 स्वात्मनस्तु परीक्षायामुपयुक्तानि सर्वथा ॥ ३४ ॥
 अन्येषान्तु परीक्षायामनेकान्तान्यमूनि तु ।
 यतो ये ज्ञानिनोऽत्यन्तशुद्धस्वान्ता भृगूद्वह ॥ ३५ ॥
 तेषामापातसंसिद्धसाधनैः सिद्धिरास्थिता ।
 अतः पूर्ववासनानुरोधव्यापारतत्पराः ॥ ३६ ॥
 कथं परीक्षणीयास्ते सामान्यव्यवहारिणः ।
 ज्ञानिनस्तु तत्परीक्षां कुर्युरभ्यासवैभवात् ॥ ३७ ॥
 आपातदर्शनादेव यथा रत्नपरीक्षकाः ।
 मन्दज्ञानवतां देहसंस्था मूढसमैव हि ॥ ३८ ॥
 यतो न तेषां सहजसमाधिप्राप्तिरस्ति हि ।
 यावद्विमर्शनपरास्तावत्ते पूर्णरूपिणः ॥ ३९ ॥

साधक को तो अपने मन की जाँच-पड़ताल में हमेशा लगे रहना चाहिए । वह जैसे बड़ी होशियारी से दूसरों की जाँच में लगा रहता है, उसी तरह यदि अपनी जाँच करता रहे तो भला उसे सिद्धि कैसे नहीं मिलेगी ? ॥ ३१-३२ ॥

आदमी जिस समय दूसरों के गुण-दोषों की विवेचना करने की जगह अपने ही गुण-दोषों की छानबीन में लग जायेगा, उसी क्षण वह हर तरह के साधनों को पाकर सिद्धि तो पा ही लेगा ॥ ३२-३३ ॥

हे भृगुनन्दन ! इस तरह यहाँ ज्ञानियों के जो लक्षण बतलाये गये हैं वे तो बिलकुल अपने मन की परीक्षा के लिए ही उपयुक्त हैं ॥ ३४ ॥

लेकिन ये लक्षण दूसरों की जाँच-पड़ताल के लिए बिलकुल ही उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि हे परशुराम ! जिनका मन बिलकुल पाक-साफ है उन्हें तो शुरू में ही अनेक अन्य साधनों से सिद्धि मिल ही जाती है ॥ ३५-३६ ॥

अतः वे अपने पहले के संस्कार के मुताबिक ही काम-धन्य में लगे रहते हैं । ऐसे साधारण काम-काजियों की जाँच-पड़ताल तुम कैसे कर सकोगे ? उनकी जाँच तो अपने अनुशीलन की ताकत से ज्ञानीजन ही कर पायेंगे । कोई जोहरी ही तो रत्न को देखते ही परख सकता है, दूसरा नहीं ॥ ३६-३७ ॥

सुस्त ज्ञानियों की देह की स्थिति तो अज्ञानियों की तरह ही होती है, क्योंकि उन्हें सहज समाधि प्राप्त नहीं होती ॥ ३८-३९ ॥

ऐसे ज्ञानी जब तक विचार में डूबे रहते हैं तब तक तो वे अपने पूरे स्वरूप में ही

यदा विचारमुखास्तदा देहमयत्वतः ।
 मुखदुःखजुषोऽत्यन्तं पशुतुल्यतया स्थिताः ॥ ४० ॥
 मध्ये मध्ये पूर्णदशासादनान्निर्वृता अपि ।
 तेषां या मा पशुदशा सद्भिर्मर्शान्तिरालया ॥ ४१ ॥
 न बन्धनाय भवति दग्धरज्जुरिव स्थिता ।
 लाक्षारसैर्यदा वस्त्रप्रान्तयुग्मं सुरञ्जितम् ॥ ४२ ॥
 व्याप्त्या वासोमध्यमपि सर्वं लाक्षारुणं भवेत् ।
 एवं तस्य व्यवहृतिश्चिदामर्शनमध्यगा ॥ ४३ ॥
 चिद्रूपात्मैकतां याता न ततो बन्धनाय सा ।
 मध्यविज्ञानिनां देहसंयोगो नास्ति सर्वथा ॥ ४४ ॥
 देहात्मत्वग्रहो देहसंयोगः प्रोच्यते बुधैः ।
 स नास्ति मध्यविज्ञानवतो राम कदाचन ॥ ४५ ॥
 अभ्यासातिशयात्तस्य मनो लीनं हि सर्वदा ।
 सदा समाहितस्त्वान्तो व्यवहारो न तस्य हि ॥ ४६ ॥
 यो देह्यान्निर्विहः सोऽपि तस्य सुषुप्तिवत् ।

रहा है, किन्तु जब तक वे विचारोन्मुख नहीं होते तो देह के प्रति मिथ्याज्ञान होने के कारण सुख-दुःख की तीव्र अनुभूतिबश पशु की तरह रहते हैं ॥ ३९-४० ॥

बीच-बीच में उन्हें पूर्ण दशा आती रहती है । इन्हीं से उन्हें शान्ति का अनुभव होता है । फिर भी उस अच्छे विचार के बीच में उन्हें जो पशुदशा प्राप्त होती है, वह जो जली हुई रस्सी की तरह होती है । यही कारण है कि यह रस्सी उनके बन्धन का कारण नहीं बनती ॥ ४१ ॥

जब किसी कपड़े के दोनों छोर महावर से रंग दिये जाते हैं तो रंग के फैल जाने के कारण कपड़े का बीच का हिस्सा अपने-आप लाल हो जाता है ॥ ४२ ॥

कहा जा चुका है कि 'परमात्मा चित्स्वरूप है' उनका चिन्तन करते हुए बीच-बीच में जो काम-काज होता है, वह भी उस परमात्मा से अलग नहीं होता है । यही कारण है कि यह काम-काज साधक का बन्धन नहीं बन पाता है ॥ ४३ ॥

ओसत दर्जे के ज्ञानियों को देह के साथ कोई लगाव नहीं रहता । होशियार लोग जो आत्मबुद्धि को ही देह का लगाव कहते हैं ॥ ४४ ॥

परशुराम ! ओसत दर्जे के ज्ञानियों को देह का लगाव कभी नहीं होता । क्योंकि लगातार अनुशीलन से उनका मन हमेशा उसी परमात्मा में लगा रहता है ॥ ४५ ॥

जिस समय उसका भीतरी मन समाधि में लीन रहता है, उस समय उसका बाहरी व्यवहार बिल्कुल बन्द रहता है । उसका खान-पान, चलना-फिरना या अन्य दीर्घक क्रियाएँ तो गहरी नींद में किये गये काम की तरह ही होते हैं ॥ ४६ ॥

यथा कश्चित् सुषुप्तिस्थो वासनामात्रतः क्वचित् ॥ ४७ ॥
 किञ्चिदुक्त्वा च कृत्वा च न पश्चाद्वेद किञ्चन ।
 यथा च मदिरामत्तो वदन् कुर्वन्न वेद वै ॥ ४८ ॥
 एवमेष महायोगी लोकयात्रावहिर्गतः ।
 किञ्चित् कैदाचित् कुर्वन्न न विजानाति तत् पुनः ॥ ४९ ॥
 प्रारब्धवासनाभ्यां तु स देहो निर्वहेत् सदा ।
 यस्तुत्तमः स विज्ञानी देहस्तस्यापि नास्ति हि ॥ ५० ॥
 व्यवहारं करोत्येष रथसारथिवत् स्थितः ।
 यथा रथेन व्यापारं कुर्वन्न रथदेहकः ॥ ५१ ॥
 सारथिः स्यादेवमेव देहव्यापारतत्परः ।
 न देही नापि व्यापारी शुद्धसंवेदनात्मकः ॥ ५२ ॥
 अन्तरत्यच्छमुस्वान्तो बहिर्व्यवहरत्यसौ ।
 यथा स्त्रीवेषितो नाट्ये द्वैरूप्यमुपसङ्गतः ॥ ५३ ॥
 यथा क्रीडन् कुमारेण प्रौढस्तद्दोषवर्जितः ।
 एवमेष जगत्क्रीडातत्परो निर्मलाशयः ॥ ५४ ॥

जैसे कोई सोया हुआ आदमी पहले की गई इच्छा के मुताबिक सपने में कुछ बोल या कर बैठता है तो पीछे जगने पर उसे इस कृत्य का कोई पता नहीं चलता ॥ ४७-४९ ॥

जैसे कोई मदहोश शराबी नशे की झोंक में अनजाने ही कुछ बोलता या करता रहता है। खुमारी उतरने पर उसे पता नहीं चलता कि उसने क्या कहा या किया ? ठीक उसी तरह दुनियादारी से दूर रहनेवाला एक योगी कभी कुछ करता भी है तो बाद में उसे इसका पता ही नहीं चलता ॥ ४८-४९ ॥

ऐसे लोग अपनी देहयात्रा का निर्वाह तो नियति या पूर्वाभ्यास के कारण ही करते हैं। किन्तु जो उत्कृष्ट ज्ञानी है, उनका लगाव देह के साथ बिल्कुल नहीं होता। पर रथ पर सवार सारथी की तरह देह के साथ व्यवहार करते हैं ॥ ५०-५२ ॥

जैसे सारथी रथ पर सवार होकर अपना काम-काज तो करता है, पर वह रथ नहीं हो जाता है। इसी तरह उत्तम ज्ञानी देहयात्रा का निर्वाह करते हुए भी न तो देह बन जाते हैं और न देहयात्रा के निर्वाहक ही। वे तो विशुद्ध ज्ञानी ही बने रहते हैं ॥ ५१-५२ ॥

वे तो भीतर से बिल्कुल पाक-साफ और अपने असली रूप में मौजूद रहते हुए ही ऊपर-ही-ऊपर दुनियादारी का निर्वाह करते हैं। जैसे रंगमंच पर स्त्री के वेश में उतरनेवाला पुरुष अपने दोनों रूप में समान रूप से मौजूद रहता है ॥ ५३ ॥

अथवा जैसे बच्चों के साथ खेलनेवाले सयाने लोग खेल की हार-जीत से बरी रहते हैं, उसी तरह उत्तम ज्ञानी सांसारिक जंजाल में फँसकर भी पाक-साफ बने रहते हैं ॥ ५४ ॥

मध्यज्ञानी निरोधस्य प्रकर्षेणाचलस्थितिः ।
 अचलस्थितिरेतस्य विचारस्य प्रकर्षतः ॥ ५५ ॥
 बुद्धेस्तु परिपाकेन मध्यमोत्तमयोर्भिदा ।
 अत्र ते शृणु वक्ष्यामि संवादं ज्ञानिनोमिश्रः ॥ ५६ ॥
 पुरा हि पर्वतेशोऽभूद्राजा रत्नाङ्गदाह्वयः ।
 स विपाशामनु पुरीमध्यासीदमृताभिधाम् ॥ ५७ ॥
 तस्य पुत्रौ महात्मानौ स्थितावतिमनीषिणौ ।
 रुक्माङ्गदहेमाङ्गदौ जनकस्यगतिवल्लभौ ॥ ५८ ॥
 तत्र रुक्माङ्गदो ह्यासीच्छास्त्राणां पारदर्शनः ।
 हेमाङ्गदोऽतिविज्ञानी ज्ञानिनामुत्तमोऽभवत् ॥ ५९ ॥
 तावुभौ निर्गता सर्वसेनाभिः परिवारितौ ।
 मृगयार्थं वसन्तेषु ययतुर्गहनं वनम् ॥ ६० ॥
 तत्रानेकान् मृगान् व्याघ्रान् शशकान् महिषानपि ।
 हत्वाऽन्यन्तपरिथान्तावासाद्य हृदमास्थितौ ॥ ६१ ॥
 तद्घटदस्य परे पारे न्यग्रोधे ब्रह्मराक्षसः ।
 समस्तशास्त्रपारज्ञो विद्वद्भिरविब्रतत्यलम् ॥ ६२ ॥

औसत दर्जे के मध्यम ज्ञानियों की स्थिति तो बहुत ज्यादा अवरोध के कारण अटल बनी रहती है । किन्तु उत्तम कोटि के ज्ञानियों की स्थिति तो बेरोक पर विचार की उत्कृष्टता के कारण ही अटल बनी रहती है ॥ ५५ ॥

इस तरह बुद्धि की प्रौढ़ता की कमी-बेशी के हिसाब से उत्तम और मध्यम कोटि के ज्ञानियों का भेद होता है । इसके बारे में मैं तुम्हें दो ज्ञानियों का पारस्परिक संवाद सुनाता हूँ, सुनो ॥ ५६ ॥

पुराने जमाने की बात है—पहाड़ी इलाके में रत्नांगद नाम का एक राजा था । विपाशा नदी के किनारे अमृता नाम की नगरी में वह रहता था ॥ ५७ ॥

उस राजा की दो बेटे थे । एक का नाम रुक्मांगद और दूसरे का नाम हेमांगद था । दोनों ही बड़े बुद्धिमान्, उदारमनसा और पिता के अत्यन्त प्यारे थे ॥ ५८ ॥

उनमें रुक्मांगद तो सकलशास्त्र-विशेषज्ञ था और हेमांगद ज्ञानियों में श्रेष्ठ और आत्मदर्शी था ॥ ५९ ॥

एक बार अपनी सारी सेना के साथ दोनों भाई नगर से बाहर निकले । वसन्त का समय था । शिकार खेलने के लिए दोनों भाई सघन वन में घुस गये ॥ ६० ॥

वहाँ उन्होंने अनेक हिरनों, बाघों, खरहों और गेंडों को मार गिराया । फिर थक कर एक सरोवर के किनारे आकर बैठ गये ॥ ६१ ॥

उस सरोवर के दूसरे किनारे पर एक विशाल वरगद का पेड़ था । उस पेड़ पर

निर्जितान् भक्षयन्नास्ते चिरकालाद्धि भार्गव ।
 रुक्माङ्गदश्चरामुखान्निश्चम्य वादकौतुकी ॥ ६३ ॥
 गत्वा तत्र भ्रातृयुतस्तेन वादपरोऽभवत् ।
 निर्जितस्तेन वादेषु गृहीतो ब्रह्मराक्षसा ॥ ६४ ॥
 रुक्माङ्गदोऽथ तं दृष्ट्वा प्राह हेमाङ्गदस्तु तम् ।
 भो ब्रह्मराक्षसैनं त्वं न भक्षयितुमर्हसि ॥ ६५ ॥
 मां जित्वाऽवरजं ह्यस्य ततो नौ सह भक्षय ।
 हेमाङ्गदवचः श्रुत्वा प्रोवाच ब्रह्मराक्षसः ॥ ६६ ॥
 चिराय लब्धो ह्याहारो बुभुक्षा मां प्रबाधते ।
 एतेन पारणां कृत्वा विवदामि त्वया सह ॥ ६७ ॥
 ततस्त्वामपि निर्जित्य भक्षितेन त्वया ततः ।
 अत्यन्तं तर्पितो भूयामिति मे नृप निश्चयः ॥ ६८ ॥
 चिरादेव वरः प्राप्तो वसिष्ठात्तु महात्मनः ।
 कदाचिदागतः शिष्यो वसिष्ठस्य तु भक्षितः ॥ ६९ ॥
 देवराताभिघस्तेन शप्तस्तेन महात्मना ।

एक ब्रह्मराक्षस रहता था । वह शास्त्रज्ञान में पारंगत था । विद्वानों के साथ वह शास्त्रार्थ करता था ॥ ६२ ॥

हे परशुराम ! शास्त्रार्थ में वह जिसे पराजित कर देता था उसे खा जाता था । पिछले बहुत दिनों से उसका यह गिलसिला जारी था । रुक्मांगद को भी वाद-विवाद का शौक था । उन्हें जब इसकी खबर मिली तब वह भाई के साथ वहाँ जाकर उससे शास्त्रार्थ करने लगा ॥ ६३-६४ ॥

ब्रह्मराक्षस से रुक्मांगद हार गया । उसने रुक्मांगद को पकड़ लिया । यह देखकर हेमांगद ने कहा—हे ब्रह्मराक्षस ! तुम इन्हें मत खाओ । मैं इनका छोटा भाई हेमांगद हूँ, हमें पहले जीत लो । फिर हम दोनों को एक साथ ही खा लेना ॥ ६४-६५ ॥

हेमांगद की बात सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा—मुझे बहुत जोर से भूख लगी है । बहुत दिनों के बाद मुझे यह आहार मिला है । पहले मुझे इसका पारण कर लेने दो फिर तुमसे शास्त्रार्थ कर लूंगा ॥ ६६-६७ ॥

फिर तुम्हें भी जीत कर खा लूंगा तो मेरा पेट भर जायेगा । राजन् ! यही मेरा विचार है ॥ ६८ ॥

बहुत दिन बीत गये । महर्षि वशिष्ठ ने मुझे ऐसा ही वरदान दिया था । एक बार उनका देवरात नामक शिष्य यहाँ आया था, उसे मैं खा गया तो उन्होंने मुझे शाप दिया ॥ ६९ ॥

इतः परं भक्षयित्वा मनुष्यं ब्रह्मराक्षसः ॥ ७० ॥
 दग्धं भवेत्तव मुखमिति पश्चान्ममया मुनिः ।
 भूयः सम्प्रार्थितो मह्यं प्रायच्छद्वरमुत्तमम् ॥ ७१ ॥
 वादेषु निर्जितान् मर्त्यान् भक्षय त्वं समन्ततः ।
 इति तद्वादविजितान् भक्षयामि ततस्त्वहम् ॥ ७२ ॥
 चिरायैष मया प्राप्त आहारः सर्वतोऽधिकः ।
 भक्षयित्वा ततो वादे त्वां विजेष्यामि भूमिप ॥ ७३ ॥
 इत्युक्त्वा भक्षणोद्युक्तं पुनर्हेमाङ्गदोऽब्रवीत् ।
 ब्रह्मराक्षस मद्वाक्यं किञ्चिच्छृणु मया चितः ॥ ७४ ॥
 अपि किञ्चित् प्राप्य चैनं परित्यजसि तद्वद ।
 दत्त्वा तुभ्यं तदेनं तु मोक्षयामि सहोदरम् ॥ ७५ ॥
 इत्युक्तः प्राह भूयस्तं नृपं स ब्रह्मराक्षसः ।
 शृणु राजन्नास्ति तद्वद किञ्चिद्येनैनमुत्सृजे ॥ ७६ ॥
 कः प्राणप्रियमाहारं त्यजेत् कालोपसङ्गतम् ।
 किन्त्वेकः समयो मेऽस्ति प्रश्ना मे हृदि संस्थिताः ॥ ७७ ॥
 तान्मे यदि प्रतिब्रूयास्तत्ते भ्रातरमुत्सृजे ।
 ततो हेमाङ्गदः प्राह पृच्छ तान् संवदामि ते ॥ ७८ ॥

हे ब्रह्मराक्षस ! इसके बाद यदि तुम किसी आदमी को खाओगे तो तुम्हारा मुँह जल जायेगा ।' फिर मैंने जब उनकी काफी विनती की तब उन्होंने यह सुन्दर वर दिया ॥ ७०-७१ ॥

'शास्त्रार्थ में पराजित आदमी को तुम खा सकते हो' इसीलिए शास्त्रार्थ में जिसे जीतता हूँ उसे मैं खा जाता हूँ ॥ ७२ ॥

बहुत दिनों के बाद राजन् ! मुझे यह सुन्दर आहार मिला है । पहले इसे खा लेता हूँ, बाद में तुम्हें जीतूँगा ॥ ७३ ॥

इतना कहकर वह रुक्माङ्गद को खाने के लिए तैयार हो गया । यह देखकर हेमाङ्गद ने कहा—ब्रह्मराक्षस ! मेरी एक छोटी-सी बात सुनो—बतलाओ, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो मैं तुम्हें दूँ और वह लेकर तुम इन्हें छोड़ दो ॥ ७४-७५ ॥

यह सुनकर ब्रह्मराक्षस ने कहा—राजन् ! सुनो ऐसी कोई चीज नहीं है, जिसके बदले में मैं इसे छोड़ दूँ ॥ ७६ ॥

भला इतने दिनों के बाद अपने प्रिय आहार को पाकर उसे कौन छोड़ना चाहेगा ? किन्तु मेरी एक शर्त है, मेरे मन में कुछ सवाल हैं । यदि तुम उसका सही जवाब दे दोगे तो तुम्हारे भाई को छोड़ दूँगा ॥ ७७ ॥

तब हेमाङ्गद ने कहा—'पूछो, मैं उसका जवाब दूँगा ।' इतना सुनने के बाद

इत्युक्तो नृपपुत्रं तं पप्रच्छ ब्रह्मराक्षसः ।
 गूढप्रश्नान् क्रमेणैव तद्वक्ष्ये शृणु भागवं ॥ ७९ ॥
 आकाशाद्वितता या स्यात् सूक्ष्मा च परमाणुतः ।
 सा किरूपा स्थिता कुत्र वदैतन्नृपपुत्रक ॥ ८० ॥
 वितता चितिराकाशात् सूक्ष्मा च परमाणुतः ।
 स्फुरद्रूपा स्वात्मसंस्था शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८१ ॥
 एकापि साऽतिवितता कथं सूक्ष्मतरा भवेत् ।
 स्फुरत्त्वं किं किमात्मा च वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८२ ॥
 कारणत्वाद्धि वितता सूक्ष्माऽग्राह्यत्वतोऽपि च ।
 स्फुरत्वमात्मा च चितिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८३ ॥
 स्थानं तदुपलब्धौ किं कथं वा सोपलभ्यते ।
 उपलब्ध्या च किं वा स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८४ ॥
 धीः स्थानमुपलब्धौ तु स्वैकाग्र्यात् सोपलभ्यते ।
 उपलब्ध्या जनिर्न स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८५ ॥
 धीः केयं समाख्याता तदेकाग्र्यं च कीदृशम् ।
 जनिर्वापि भवेत् का सा वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८६ ॥

उस ब्रह्मराक्षस ने कई गम्भीर सवाल पूछे । सुनो परशुराम ! वह सवाल कहता हूँ ॥ ७८-७९ ॥

हे राजकुमार ! बतलाओ, वह कौन सी वस्तु है जिसका फैलाव आकाश से भी ज्यादा है और परमाणु से भी छोटा है ? उसका रूप कैसा है और वह कहाँ रहती है ? ॥ ८० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! वह वस्तु चिति है । चिति आकाश से भी बड़ी और परमाणु से भी छोटी है । उसका रूप स्फुरण है । वह अपनी आत्मा में मौजूद है ॥ ८१ ॥

राजकुमार ! वह तो एक ही है, फिर एक साथ बहुत बड़ी और बहुत छोटी कैसे हो सकती है ? यह स्फुरण क्या है ? और फिर आत्मा क्या है ? बतलाओ ॥ ८२ ॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! सबका कारण होने की वजह से बहुत बड़ी है और इन्द्रियग्राह्य न होने के कारण सबसे छोटी है । स्फुरण और आत्मा तो चिति का ही अपर नाम है ॥ ८३ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ, उसे पाने की जगह कहाँ है ? कैसे वह पायी जा सकती है ? और उसे पा लेने पर क्या होता है ? ॥ ८४ ॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! उसे पाने की जगह बुद्धि है । एकाग्र मन से उसे पाया जाता है । उसे पा लेने पर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ८५ ॥

राजकुमार ! बतलाओ, बुद्धि किसे कहते हैं ? उसकी एकाग्रता कैसे होती है ? और जन्म लेना क्या है ? ॥ ८६ ॥

चित्तिर्जाड्यावृता धीः स्यादैकाग्र्यं स्वात्मविश्रमः ।
जनिर्देहात्मताबुद्धिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८७ ॥
कस्माच्चित्तेर्नोपलब्धिः केन वा सोपलभ्यते ।
जनिः कथं वा सम्प्राप्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ८८ ॥
अविवेकान्नोपलब्धिं रात्मना सोपलभ्यते ।
जनिः कर्तृत्वाभिमानाच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ८९ ॥
कोऽविवेकस्त्वया प्रोक्तस्तथात्मा वापि को भवेत् ।
को वा कर्तृत्वाभिमानो वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९० ॥
अविवेकोऽपृथक्ज्ञानमात्मानं पृच्छ स्वात्मनि ।
तद्वासनाभिमानः स्याच्छृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९१ ॥
अविवेकः केन नश्येत् तस्य किं वा हि कारणम् ।
तस्यापि किं कारणं स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९२ ॥
विचारेण स नश्येद् वैराग्यं तस्य कारणम् ।
तत्कारणं दोषदृष्टिः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९३ ॥
को विचारो भवेत् किं वा वैराग्यं सम्प्रचक्षते ।
दोषदृष्टिश्च का प्रोक्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९४ ॥

सुन ब्रह्मराक्षस ! जड़ता अर्थात् अविद्या से बिना ढकी पवित्र बुद्धि ही चिति है । अपनी आत्मा में ठहर जाना ही एकाग्रता है और देह में आत्मबुद्धि ही जन्म है ॥ ८७ ॥

राजकुमार ! तुम यह बतलाओ कि चिति मिलती क्यों नहीं ? वह साधन क्या है, जिसके माध्यम से वह मिलती है ? और जन्म कैसे होता है ? ॥ ८८ ॥

ब्रह्मराक्षस सुनो ! अपनी नादानी की वजह से चिति नहीं मिलती है । वह तो खुद ही मिल जाती है । काम करने के अहंकार से जन्म होता है ॥ ८९ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ कि तुमने नादानी किसे कहा ? स्वयं अर्थात् आत्मा क्या है ? कर्त्तापन का अभिमान क्या है ? ॥ ९० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! देह को आत्मा से अलग न समझना ही नादानी है । आत्मा क्या है ? इसे खुद से पूछो । 'मैं करता हूँ' ऐसा सोचना ही कर्त्तापन का प्रमण्ड है ॥ ९१ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ, नादानी कैसे मिट सकती है ? उसका कारण क्या है ? और उस कारण का भी कोई कारण है क्या ? ॥ ९२ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! विचार करने से नादानी मिटती है । उसकी वजह विरक्ति है और विरक्ति का कारण विषयों में दोषदृष्टि है ॥ ९३ ॥

राजकुमार ! यह भी बतलाओ कि विचार क्या है ? विरक्ति किसे कहते हैं ? दोषदृष्टि क्या कहलाती है ? ॥ ९४ ॥

दृग्दृश्ययो परीक्षातो दृश्ये तत्परिवर्जनम् ।
 दुःखबुद्धिः सा हि दृश्ये शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९५ ॥
 एतत् सर्वं केन भवेत् स वा कस्मादवाप्यते ।
 तत्र वा किं निदानं स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९६ ॥
 देवतानुग्रहात् सर्वं भक्त्या सा हि समाप्यते ।
 निदानं सत्सङ्ग एव शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९७ ॥
 का देवता च सम्प्रोक्ता का च सा भक्तिरुच्यते ।
 सन्तश्च कीदृशाः प्रोक्ता वदैतन्नृपनन्दन ॥ ९८ ॥
 देवता स्याज्जगद्धात्री भक्तिस्तत्परतोच्यते ।
 सन्तः शान्ता दयावन्तः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ ९९ ॥
 सदा विभेति को लोके सदा दुःखपरोऽपि कः ।
 सदा दैन्ययुतः को वा वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०० ॥
 महाधनी सदा भीतो दुःखी बहुकुटुम्बवान् ।
 आशाग्रस्तः सदा दीनः शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०१ ॥
 निर्भयः को भवेल्लोके निर्दुःखश्चापि को भवेत् ।
 अदीनः सर्वदा कः स्याद्वदैतन्नृपनन्दन ॥ १०२ ॥

सुनो हे ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा और दृश्य की सही पहचान ही विचार है । दृश्य में राग नहीं रखना ही विरक्ति या वैराग्य है । दृश्य में दुःखात्मक बुद्धि का होना ही दोषदृष्टि है ॥ ९५ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ कि ये सब होंगे कैसे ? और तुमने जिन साधनों का उल्लेख किया है, वे भी कैसे मिलेंगे, उसका भी मूल कारण क्या है ? ॥ ९६ ॥

ब्रह्मराक्षस ! सुनो ये सब भगवान् की कृपा से होते हैं और भगवान् की कृपा तो उनकी भक्ति से होती है । भक्ति सत्संग से होती है ॥ ९६ ॥

राजकुमार ! बतलाओ, भगवान् किसे कहते हैं ? भक्ति क्या है ? सन्त किसे कहा जाता है ? ॥ ९८ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! संसार को धारण करनेवाला जो है वही तो भगवान् है । उनमें मन को लीन कर देना उनकी भक्ति है । शान्त और दयालु पुरुष सन्त है ॥ ९९ ॥

राजकुमार ! यह भी बतला दो, दुनिया में हमेशा कौन डरता रहता है ? कौन दुःख में डूबा रहता है ? और कौन दीनता में डूबा रहता है ? ॥ १०० ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! धन की अधिकता के कारण लोग हमेशा डरते रहते हैं । अधिक परिवार वाला आदमी दुःखी रहता है । आशा में फँसा आदमी दीन बना रहता है ॥ १०१ ॥

राजकुमार ! यह बतलाओ, दुनिया में निडर कौन हो सकता है ? बिना दुःख के कौन है ? हमेशा दीनताशून्य कौन है ? ॥ १०२ ॥

निर्भयः सङ्गरहितो निर्दुःखो जितमानसः ।
 ज्ञातज्ञेयस्त्वदीनात्मा शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०३ ॥
 दुर्लक्ष्यः स्यात् को हि लोके विदेहो दृश्यते च कः ।
 निष्क्रियस्य क्रिया का स्यादद्वैतनृपनन्दन ॥ १०४ ॥
 जीवन्मुक्तो हि दुर्लक्ष्यो विदेहो देहवानपि ।
 तत्क्रिया निष्क्रियस्योक्ता शृणु त्वं ब्रह्मराक्षस ॥ १०५ ॥
 किमस्ति किं नास्ति लोके कोऽत्यन्तासम्भवी भवेत् ।
 एतावदुक्त्वा नृपते मोक्षय द्रुतमग्रजम् ॥ १०६ ॥
 दृग्नास्ति नास्ति वै दृश्यं व्यवहारो ह्यसम्भवी ।
 उक्तमेतद्ब्रह्मराक्षो मुञ्च मदध्मातरं द्रुतम् ॥ १०७ ॥
 श्रुत्वैतदथ सन्तुष्टो मुमोच ब्रह्मराक्षसः ।
 रुक्माङ्गदं ततः पश्चादभवद्ब्राह्मणो हि सः ॥ १०८ ॥
 तेजस्विनं तपोमूर्तिं दृष्ट्वा ब्राह्मणरूपिणम् ।
 पप्रच्छतू राजसुतौ को भवानिति शङ्कितौ ॥ १०९ ॥

हे ब्रह्मराक्षस ! सुनो, जिसे किसी में कोई अनुरक्ति नहीं है, वह हमेशा निडर रहता है । मन पर जिसका अधिकार है वह सदैव सुखी रहता है और जानने योग्य वस्तु को जिसने जान लिया है उसमें दीनता नहीं रहती ॥ १०३ ॥

राजकुमार ! तो फिर यह भी बतला दो कि संसार में बड़ी कठिनाई से जिसे पहचाना जाय वह कौन है ? देह के बिना भी कौन दिखलायी देता है ? जिसमें कोई क्रिया न हो उसकी क्रिया क्या है ? ॥ १०४ ॥

सुनो ब्रह्मराक्षस ! जो जीवित दशा में ही आत्मज्ञान द्वारा सांसारिक माया-बन्धन से छूट गया हो, ऐसे वीतराग की पहचान बड़ी कठिन है । वही देही होकर भी विदेह है और उसकी क्रिया को ही निष्क्रियकी क्रिया कहते हैं ॥ १०५ ॥

संसार में कौन-सी वस्तु है और कौन-सी नहीं है ? तथा बिल्कुल असम्भव क्या है ? राजन् ! बस, इतना बतला देने पर मैं तुम्हारे भाई को तुरन्त ही छोड़ दूँगा ॥ १०६ ॥

ब्रह्मराक्षस ! द्रष्टा चेतन है और दृश्य नहीं है तथा व्यवहार असम्भव है । इस तरह मैंने तुम्हारे इस सवाल का भी जवाब दे दिया । अब तुम मेरे भाई को जल्द छोड़ दो ॥ १०७ ॥

यह सब सुनकर ब्रह्मराक्षस बड़ा खुश हुआ और उसने रुक्मांगद को छोड़ दिया । इसके बाद वह भी ब्रह्मराक्षस से ब्राह्मण बन गया ॥ १०८ ॥

उस ब्रह्मराक्षस को एक तेजस्वी तपःपूत ब्राह्मण के रूप में देखकर राजकुमारों ने सशंक होकर पूछा — आप कौन हैं ? ॥ १०९ ॥

अथ प्राह ब्राह्मणाग्र्यः स्ववृत्तं वै यथातथम् ।
 अहं पुरा ब्राह्मणस्तु मगधेष्वभिविश्रुतः ॥ ११० ॥
 वसुमानिति विख्यातः सर्वशास्त्रविशारदः ।
 सभासु निर्जिता भूयो मया विद्याभिमानीना ॥ १११ ॥
 विद्वांसः शतशो विप्रास्ततोत्यन्तमुगवितः ।
 कदाचिन्मगधेशस्य सभायामष्टकं मुनिम् ॥ ११२ ॥
 परावरजं संशान्तं वादार्थी सङ्गतोऽभवम् ।
 शुष्कतर्कैकनिपुण आत्मविद्याविचारणे ॥ ११३ ॥
 ततो मया स आक्षिप्तः केवलं तर्कयुक्तिभिः ।
 समाधानवचस्तस्य ब्रह्मागमसुबंहितम् ॥ ११४ ॥
 दूषयित्वा तर्कजालैरधिक्षेपपरोऽभवम् ।
 अधिक्षिप्तोऽपि बहुधा मया राजसभागतः ॥ ११५ ॥
 शान्तस्तूष्णीं बभूवाथ शिष्यस्तस्य महात्मनः ।
 काश्यपो मां क्रोधवशाच्छशाप नृपसंसदि ॥ ११६ ॥
 आचार्य मेऽधिक्षिपसि त्वमस्थाने द्विजाधम ।
 यतस्तस्माच्चिरं कालं ब्रह्मरक्षो भविष्यसि ॥ ११७ ॥
 शप्त एवमहं तेन भीतोऽत्यन्तं तदा मुनिम् ।
 वेपमानः प्रणम्याशु चाष्टकं शरणं गतः ॥ ११८ ॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने जस-के-तस अपनी कहानी सुना दी । मगध देश में पहले मैं एक सुप्रसिद्ध ब्राह्मण था ॥ ११० ॥

मेरा नाम वसुमान था । मैं सकल शास्त्रों में प्रवीण था । विद्या का मुझे बड़ा अभिमान था । सभा में मैंने सैकड़ों विद्वान् ब्राह्मणों को पराजित किया था । इससे मैं काफी घमंडी हो गया था ॥ १११ ॥

किसी के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए मैं सदैव उत्सुक बना रहता था । मैं शुष्क तर्क करने में बड़ा निपुण था । मगधनरेश की सभा में एक बार मेरा शास्त्रार्थ अष्टक मुनि के साथ हुआ । विचारणीय विषय था—‘आत्मविद्या’ । मुनिजी परमार्थ-तत्त्ववेत्ता और बड़े ही शान्तचित्त थे ॥ ११२-११३ ॥

शुष्क तर्क के सहारे बहुत देर तक मैं उनके मत का खण्डन करता रहा । उनके शास्त्रसम्मत सप्रमाण कथन को मैं शुष्क तर्क से बार-बार काटता रहा ॥ ११४ ॥

उरा राजसभा में मैं लगातार उन पर दोषारोपण करता रहा, फिर भी वे शान्त होकर चुप लगा गये । पर उनके शिष्य काश्यप से मेरी यह ज्यादाती बर्दाश्त नहीं हुई । उन्होंने मुझे श्वाप दे दिया ॥ ११५-११६ ॥

अरे नीच ब्राह्मण ! तुमने बेबजह ही मेरे गुरु का अपमान किया है । अतः तुम बहुत दिनों तक ब्रह्मरक्षस बनकर रहो ॥ ११७ ॥

मयि सोऽथ दयाश्वके विरोधिन्यपि शान्तधीः ।
 शापस्यान्तं ददौ मह्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥ ११९ ॥
 प्रश्नांस्त्वयापि हि कृतान् प्रत्युक्तांश्च मया हि तान् ।
 स्थापितान् केवलैस्तर्कैर्यदैकः प्रतिवक्ष्यति ॥ १२० ॥
 कश्चिद्विद्वांस्तदा शापाद्विमुक्तस्त्वं भविष्यसि ।
 तच्छापादथ ते मुक्तश्चिराय नृपनन्दन ॥ १२१ ॥
 तत्त्वां मन्ये महात्मानं ज्ञातज्ञेयं नृपूतमम् ।
 इत्युक्तस्तेन विप्रेण विस्मितोऽभून्नृपात्मजः ॥ १२२ ॥
 ततो भूयो नृपसुतोऽनुयुक्तस्तेन सर्वशः ।
 वसुमन्तं बोधयित्वा सम्यक् प्रागात् पुरं स्वकम् ॥ १२३ ॥
 प्रमम्य वसुमन्तं तं सहितो भ्रातृसैनिकैः ।
 एतत्ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टं भार्गव त्वया ॥ १२४ ॥
 इति श्रीत्रिपुरारहस्ये ज्ञानखण्डे राक्षसोपाख्यानं एकविंशोऽध्यायः ।

उनका दाहण श्राप सुनकर मैं बुरी तरह डर गया । कोई दूसरा चारा न देखकर थर-थर काँपते हुए अष्टक मुनि को ही प्रणाम कर उनकी शरण में चला गया ॥ ११८ ॥ मुनि शान्तचित्त थे । मैंने उनका विरोध किया था, फिर भी उन्होंने मुझ पर दया की । उन्होंने उस श्राप का अन्त कैसे किया, मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ॥ ११९ ॥

तुमने मुझसे प्रश्न किया, जिसका मैंने उचित समाधान कर दिया । फिर भी तुमने अपने शुष्क तर्क से इन प्रश्नों को खड़ा रखा है । अतः यदि कोई एक ही विद्वान् तुम्हारे इन तर्कों का समाधान कर देगा; तब तुम श्रापमुक्त हो जाओगे ॥ १२० ॥

राजकुमार ! बहुत समय बीत जाने के बाद तुमने मुझे उस श्राप से मुक्त कराया है । अतः मैं तुम्हें महात्मा, ज्ञात और ज्ञेय समजता हूँ । राजाओं में तुम सर्वश्रेष्ठ राजा हो ॥ १२१-१२२ ॥

उस ब्राह्मण की बातें सुनकर राजकुमार को बड़ा ही आश्चर्य हुआ । उस वसुमान् नामक ब्राह्मण ने राजकुमार से फिर अनेक प्रश्न पूछे । राजकुमार ने सभी प्रश्नों का सही समाधान कर दिया । फिर उस वसुमान् ब्राह्मण को प्रणाम कर अपने भाई और सैनिकों के साथ राजधानी लौट गया । परशुराम ! तुम्हारे सभी प्रश्नों का उत्तर मैंने दे दिया ॥ १२३-१२४ ॥

इक्कीसवाँ अध्याय समाप्त ।

द्वाविंशोऽध्यायः

श्रुत्वैवं राक्षसकथां रामो भृगुकुलोद्भवः ।
 पुनः पप्रच्छावधूतकुलेशं प्रश्रयाश्रयः ॥ १ ॥
 भगवन् किं तेन पृष्टं शापमुक्तद्विजेन वै ।
 हेमाङ्गदेन किं प्रोक्तमेतन्मे कृपया वद ॥ २ ॥
 कौतुक्यत्यन्तमत्राहं न तदल्पं भवेत् क्वचित् ।
 इति पृष्टः पुनः प्राह दत्तात्रेयो दयापरः ॥ ३ ॥
 राम तत्ते प्रवक्ष्यामि महार्थं तत् प्रभाषितम् ।
 ततः पप्रच्छ वसुमान् हेमाङ्गदमुपस्थितम् ॥ ४ ॥
 राजपुत्र किञ्चिदहं पृच्छामि त्वं समीरय ।
 अहमष्टकयोगीशात् तदज्ञासिषमामदितः ॥ ५ ॥
 भूयस्त्वदुक्त्या च सम्यग् विदितं परमं पदम् ।
 किन्तु ते ज्ञाततत्त्वस्य कथं स्थितिरियं भवेत् ॥ ६ ॥
 कथं ज्ञातसुविज्ञेयो व्यवहारपरायणः ।
 ध्वान्तप्रकाशयोर्वद्वत् स्थितिरेकत्र सम्भवेत् ॥ ७ ॥

(वसुमान् का समाधान एवं ग्रन्थ का सारांश)

इस तरह ब्रह्मराक्षस की कहानी सुनकर भृगुवंश में उत्पन्न परशुराम ने विनया-
 वनत हो अवधूतशिरोमणि दत्तात्रेयजी से पुनः पूछा ॥ १ ॥

भगवन् ! शापमुक्त उस ब्राह्मण ने क्या पूछा था ? और हेमाङ्गद ने उसका उत्तर
 क्या दिया ? कृपया मुझे बतलायें ॥ २ ॥

इसके बारे में मुझे काफी कुतूहल है । यह कभी कोई छोटी बात नहीं हो सकती ।
 यह सुनकर दयालु दत्तात्रेय ने कहना प्रारम्भ किया ॥ ३ ॥

परशुराम ! यह संवाद गम्भीर अर्थ से भरा है, जो मैं तुम्हें सुनाता हूँ । समीप
 में बैठे हेमाङ्गद से वसुमान् ने पूछा ? ॥ ४ ॥

राजकुमार ! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ । कृपया आप स्पष्ट बतलायें ।
 शुरु में मैंने योगिराज अष्टक से यह तत्त्व सुना था ॥ ५ ॥

अब आपके मुँह से उस परमपद की बातें सुनकर अच्छी तरह उसका ज्ञान मुझे
 हो गया । परन्तु आप तो तत्त्वज्ञ हैं; आपकी स्थिति ऐसी क्यों है ? ॥ ६ ॥

जिसने जानने योग्य वस्तु की जानकारी हासिल कर ली है, वह फिर दुनियादारी
 में कैसे लगा रह सकता है ? यह तो अन्धकार और प्रकाश के एक साथ रहने जैसी
 बात ही होगी ॥ ७ ॥

एतन्मे राजतनय ब्रूहि सम्यग् यथास्थितम् ।
 इत्यापृष्टः प्राह हेमाङ्गदस्तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥ ८ ॥
 ब्रह्मन् ते भ्रान्तिरद्यापि न सम्यक् प्रविनाशिता ।
 व्यवहारेण किं ज्ञानं बाध्यते स्वात्मसम्भवम् ॥ ९ ॥
 व्यवहारवशाज्ज्ञानं बाध्यते च ततः कथम् ।
 पुरुषार्थस्य लाभः स्यात् स्वप्नज्ञानसमेन वै ॥ १० ॥
 सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं ज्ञानमाश्रित्य सम्भवेत् ।
 तज्ज्ञानं बाध्यते तेन कथं तन्मे समीरय ॥ ११ ॥
 ज्ञानं तदेव हि भवेद् यत्रेदं भासते जगत् ।
 सङ्कल्पाद् व्यवहारो हि ज्ञाने सर्वं प्रकाशते ॥ १२ ॥
 असङ्कल्पेन तद्रूपमनुलक्ष्य धिया सकृत् ।
 कृतार्थो बन्धनिर्मुक्तो भवतीति सुनिश्चयः ॥ १३ ॥
 तस्माद् ब्रह्मन् ते प्रश्नः सम्मतोऽयं सुबुद्धिभिः ।
 पुनस्तं प्राह वसुमान् नृपसूनुं महाशयम् ॥ १४ ॥
 सत्यं राजकुमारैतन्मयापीत्यं सुनिश्चितम् ।
 स्वरूपं निर्विकल्पं हि संवेदनमिहोच्यते ॥ १५ ॥
 सविकल्पत्वमापन्ने पुनर्भ्रान्तिः कुतो न हि ।
 विकल्प एव हि भ्रान्तिर्यथा रज्जौ भुजङ्गमः ॥ १६ ॥

राजकुमार ! इसका जो कुछ भी कारण हो वह मुझे हू-ब-हू समझा दें । ऐसा पूछने पर हेमाङ्गद ने उस श्रेष्ठ ब्राह्मण से कहा ॥ ८ ॥

ब्राह्मणदेवता ! आपका भ्रम अभी भी नहीं गया है । अपनी आत्मा के रूप में रहनेवाला ज्ञान भला व्यवहार से बाधित हो सकता है ? ॥ ९ ॥

यदि किसी व्यवहार से ज्ञान बाधित हो जाय, तो सपने के ज्ञान और जाग्रत ज्ञान में कोई अन्तर नहीं रह जाय ॥ १० ॥

ये सारे-के-सारे व्यवहार तो ज्ञान के सहारे ही होते हैं । फिर उसी से यह बाधित कैसे हो जायेगा ॥ ११ ॥

जिसमें सारी दुनिया दीख रही है, वही तो ज्ञान है । सिर्फ संकल्प से ज्ञान में ही तो सारे व्यवहार के दर्शन होते हैं ॥ १२ ॥

हाँ ! यह बात बिलकुल निश्चित है; कामनाशून्य होकर एक बार उस आत्मा के स्वरूप को लक्ष लेने पर जीव बन्धनमुक्त होकर कृतार्थ हो जाता है ॥ १३ ॥

अतः हे ब्राह्मणदेवता ! 'बुद्धिमानों को आपका यह प्रश्न मान्य नहीं है ।' तब वसुमान् ने उदारमना राजकुमार से पुनः पूछा ॥ १४ ॥

राजकुमार ! यह बात ठीक है और मैंने भी ऐसा ही निश्चय किया है । शुद्ध-चित्ति ही अपना निर्विकल्प स्वरूप कहा गया है । यही यथार्थ भी है ॥ १५ ॥

शृणु ब्रह्मन् न जानासि भ्रमाभ्रमविनिर्णयम् ।
 गगने नीलिमा भाति गगनं जानतामपि ॥ १७ ॥
 व्यवहारं च कुर्वन्ति नीलं नभ इति क्वचित् ।
 तावतैव तु तज्ज्ञानं न भ्रान्तिरभिधीयते ॥ १८ ॥
 अतत्त्वज्ञे हि सा भ्रान्तिस्तत्त्वज्ञ सा प्रमैव हि ।
 हतप्रामाण्यजीवं तज्ज्ञानं मृतमहाहिवत् ॥ १९ ॥
 दर्पणप्रतिबिम्बस्य व्यवहारसमो भवेत् ।
 अभिज्ञस्यानभिज्ञस्य चाप्यतोऽस्ति भिदा तयोः ॥ २० ॥
 ज्ञस्य प्रमैव तज्ज्ञानमज्ञस्य तु भ्रमात्मकम् ।
 ज्ञानिनां ज्ञानमेव स्यात् सर्वोऽपि व्यवहारकः ॥ २१ ॥
 दर्पणप्रतिबिम्बानां व्यवहारेण सम्मितः ।
 अभिज्ञानामतो भूयो न हि भ्रान्तेः समुद्भवः ॥ २२ ॥
 केवलाज्ञानजनितं ज्ञानेन विनिवर्त्तते ।
 दोषेण जनितं कस्माद्विलीयेज्ज्ञानमात्रतः ॥ २३ ॥
 अत एव तैमिरिकः पश्येज्ज्ञानन्नपि द्वयम् ।
 जगदाभास एषस्तु कर्मदोषसमुद्भवः ॥ २४ ॥

किन्तु ! वह यदि सविकल्प हो जाय तो फिर भूल क्यों न होगी ? जैसे डोरी में कभी-कभी साँप का भ्रम हो जाता है, उसी तरह 'विकल्प' तो भ्रान्ति का स्वरूप है ही ॥ १६ ॥

सुनो ब्रह्मन् ! सच तो यह है कि भ्रम और निभ्रम के बीच आप ठीक से भेद भी नहीं कर पा रहे हैं । जो लोग आकाश को जानते हैं, उन्हें भी तो उसकी नीलिमा दिखलायी ही देती है । आकाश नीला है — ऐसा कहकर उन्हें व्यवहार करते भी देखा जाता है । किन्तु इतने से ही उनके ज्ञान को भ्रम तो नहीं कहा जा सकता ॥ १७-१८ ॥

अज्ञानी में आकाश की नीलिमा का ज्ञान भ्रान्ति ही है, किन्तु ज्ञानियों में तो ऐसा ज्ञान यथार्थ ज्ञान ही है । उनका यह ज्ञान प्रामाण्य रूप जीवन से रहित होने के कारण मरे हुए साँप की तरह किसी अनर्थ का कारण नहीं बनता ॥ १९ ॥

ज्ञानियों का कामकाज आदिने में परछाई की हलचल की तरह होता है । अतः ज्ञानी और अज्ञानियों के कार्य-कलापों में भेद तो है ही ॥ २० ॥

ज्ञानियों का व्यावहारिक ज्ञान तो यथार्थ है । परन्तु अज्ञानियों का ज्ञान भ्रम है । ज्ञानियों के लिए सारा व्यवहार भी तो ज्ञानस्वरूप ही है ॥ २१ ॥

उनके लिए यह ज्ञान आदिने में परछाई की तरह व्यावहारिक होता है । यही कारण है कि ज्ञानियों को फिर भ्रान्ति नहीं होती ॥ २२ ॥

केवल अज्ञान से उत्पन्न का ही विनाश ज्ञान से होता है । किन्तु जिनकी उत्पत्ति किसी अन्य दोष के कारण हुई हो, वह केवल ज्ञान से नहीं नष्ट हो सकते ॥ २३ ॥

तस्मादाकर्मविलयं व्यवहारो न लीयते ।
 समाप्ते कर्मणि ततः शिष्येदद्वयचिन्मयम् ॥ २५ ॥
 तस्मान्नास्त्येव विज्ञानं कदापि भ्रान्तिसम्भवः ।
 इति श्रुत्वा पुनर्विप्रः पप्रच्छ नृपनन्दनम् ॥ २६ ॥
 अहो नृपात्मज कथं जानिनां कर्म सम्भवेत् ।
 ज्ञानाग्निस्पर्शनेऽपि कर्मतूलः कथं स्थितः ॥ २७ ॥
 अथाह हेमाङ्गदोऽपि विप्रं तं नृपनन्दन ।
 ब्रह्मान् शृणु प्रवक्ष्यामि त्रिविधं कर्म जानिनाम् ॥ २८ ॥
 सर्वेषाञ्च समानं स्यादपक्वं पक्वमेव च ।
 हतोदितं चेति तत्र नश्येज्ज्ञानादमध्यमम् ॥ २९ ॥
 कर्मणा पाचकः कालो नियत्या नियतः स्थितः ।
 कालेन पाचितप्रायं पक्वं कर्म समीरितम् ॥ ३० ॥
 अपाचितमपक्वं स्याज्ज्ञानोत्पत्तेरनन्तरम् ।
 कृतं हतोदितं विद्धि ज्ञानाद्धतसमुद्भवात् ॥ ३१ ॥
 तत्र पक्वं तु यत् कर्म तदारब्धमितीर्यते ।
 आवेगं मुक्तशरवत् तिष्ठत्येव फलप्रदम् ॥ ३२ ॥

यही वज्रह है कि रतींधी से पीड़ित आदमी यह जानते हुए कि वस्तु एक है उसे दो रूप में देखता है । इस दुनिया में असल की झलक तो कर्मदोष से पैदा हुई है । इसलिए जब तक कृतकर्म से उत्पन्न भ्राग्य का क्षय नहीं हो जाता, तब तक इस व्यवहार का विलय नहीं होता । प्रारब्ध कर्म के विनष्ट होते ही केवल चिन्मात्र तत्त्व ही शेष रह जाता है ॥ २४-२५ ॥

इसलिए इस विशिष्ट ज्ञान में भूल की सम्भावना कभी हो नहीं सकती । ऐसा मुनकर उस ब्राह्मण ने राजकुमार से पूछा ॥ २६ ॥

हे राजकुमार ! जानियों से भला कर्म की सम्भावना कैसे हो सकती है ? ज्ञान रूपी आग के छू लेने पर कर्मरूपी कपास बिन जले कैसे रह सकती है ? ॥ २७ ॥

राजकुमार हेमाङ्गद बोला—सुनो ब्रह्मन् ! मैं तुम्हें बतलाता हूँ—सभी जानियों के कर्म समान रूप से तीन तरह के होते हैं—अपक्व, पक्व और हतोदित । इनमें बीच के पक्व को छोड़कर शेष दो स्वतः विनष्ट हो जाते हैं ॥ २८-२९ ॥

नियति ने काल को कर्मों को पकाने वाला नियुक्त किया है । जो कर्म काल के द्वारा प्रायः पकाकर फलोन्मुख कर दिये जाते हैं, वे 'पक्व' कर्म कहे गये हैं ॥ ३० ॥

जो परिपक्व नहीं हुए हैं, वे अपक्व हैं और जो कर्म ज्ञानोत्पत्ति के बाद किये जाते हैं, उन्हें हतोदित समझो, क्योंकि वे ज्ञान से हत अर्थात् मरे हुए ही उत्पन्न होते हैं ॥ ३१ ॥

तन्मूलको जगद्भासो ज्ञानस्य तारतम्यतः ।
 स्थितोऽपि भ्रान्तितुल्योपि न भ्रान्तिः फलभेदतः ॥ ३३ ॥
 जनयेत्तत्कालफलं मन्दज्ञानवतां स्फुटम् ।
 मध्यानामस्फुटं तच्च ज्ञानिनां फलभासनम् ॥ ३४ ॥
 उत्तमानान्तु तत्कालफलञ्च स्पष्टभासनम् ।
 शशशृङ्गसमं ब्रह्मन् न हि तत्फलमुच्यते ॥ ३५ ॥
 अज्ञानिनां कर्मफलं पुष्टं पूर्णानुसन्धितः ।
 पूर्वापरानुसन्धानात् पोषितं तत्फलन्तु तैः ॥ ३६ ॥
 ज्ञानिनां फलसन्धानं छिन्नमात्मानुसन्धितः ।
 अतो न पुष्टं मन्दानामारब्धजनितं फलम् ॥ ३७ ॥
 मध्यानां ज्ञानिनां तच्च फलं मन्दसुषुप्तिषु ।
 मशकादिकृतं दुःखमिव तत् सूक्ष्मतां गतम् ॥ ३८ ॥
 उत्तमज्ञानिनां तत्तु फलं पूर्णमपि स्थितम् ।
 दग्धरज्जुरिव भवेत् स्थितात्मज्ञानवैभवात् ॥ ३९ ॥

इनमें जो परिपक्व कर्म हैं वे प्रारब्ध अर्थात् नियति या भाग्य कहलाते हैं । वे धनुष से छूटे हुए तीर की तरह अपना वेग रहने तक फल देते ही रहते हैं ॥ ३३ ॥
 ज्ञान की कमी-बेसी के मुताबिक उन्हीं की वजह से दुनिया की प्रतीति बनी रहती है । यह संसार की प्रतीति भ्रान्ति की तरह होने के बावजूद फल में भेद रहने के कारण भ्रान्ति नहीं है ॥ ३३ ॥

मन्द ज्ञानियों को यह प्रारब्ध उसी क्षण फल देता है और मध्यम ज्ञानियों को उस फल का बोध स्पष्ट मालूम पड़ता है ॥ ३४ ॥

उत्तम ज्ञानियों को फल की जानकारी तो उसी समय हो जाती है । किन्तु हे ब्रह्मन् ! उनकी दृष्टि में वह खरहे के सींग की तरह सफेद झूठ होने के कारण उसे फल नहीं मानते ॥ ३५ ॥

अज्ञानियों को कर्मफल का अनुशीलन पहले से ही बना रहता है । इसलिए वह तैयार या मजबूत होता है । आगे-पीछे का अनुशीलन रहने के कारण वे उस फल को बढ़ाते रहते हैं ॥ ३६ ॥

ज्ञानीजन अपनी आत्मा की खोज में लगे रहते हैं । फलतः बीच-बीच में उनके कर्मफल की जाँच पड़ताल का क्रम टूटता रहता है । इसीलिए मन्द ज्ञानियों का भाग्यफल मजबूत नहीं होता ॥ ३७ ॥

मध्यम दर्जे के ज्ञानियों के लिए तो वह फल हलकी नींद में मच्छर काटने से होनेवाले दुःख की तरह बहुत कम तकलीफदेह होता है ॥ ३८ ॥

उत्तम ज्ञानियों को यह कर्मफल पूरी तरह प्राप्त होने पर भी दृढ़ आत्मज्ञान की वजह से जली हुई रस्सी की तरह केवल प्रतीति मात्र रहती है ॥ ३९ ॥

यथा नाटकवृत्तेषु नरो वैषान्तरं गतः ।
हृष्यन् विषीदश्च भूयो नान्तः विकृतिमाप्नुयात् ॥ ४० ॥
एवमेष स्थितज्ञानी मुपूर्णफलसङ्गतः ।
न फलैः स्पृश्यते तस्मात्तत्फलं शशशृङ्गवत् ॥ ४१ ॥
अज्ञानिभिस्तु शुद्धात्मा नोपलक्षित एव हि ।
अतो देहात्मभूतास्ते दृश्यसत्त्वविमर्शनाः ॥ ४२ ॥
मन्दज्ञानिभिरात्मा तु विदितः शुद्धचिन्मयः ।
जगन्वासत्यतो दृष्टं तथाप्यभ्यासमान्द्यतः ॥ ४३ ॥
प्राग्वासनाहृतज्ञानास्ते देहात्मप्रभासनम् ।
जगतः सत्यताभासं मध्ये मध्ये समाययुः ॥ ४४ ॥
भूयो ज्ञानवासना या विधुन्वन्त्यसतीं दृशम् ।
वासनैवं सत्यमिथ्याज्ञानयोश्च परस्परम् ॥ ४५ ॥
मिलिता मन्दज्ञानिनामतो मध्ये फलं स्फुटम् ।
समेऽपि वासने चैते न हि तुल्ये महीसुर ॥ ४६ ॥
सत्यज्ञानवासनया बाध्यते वासना परा ।
न च मिथ्या वासनया बाध्यते सत्यवामना ॥ ४७ ॥

जैसे एक अभिनेता मंच पर अनेक वेश बनाकर हर्ष और शोक की भूमिका निभाने के बावजूद भीतर से इस अभिनय के प्रभाव से मुक्त रहता है, उसी तरह एक निष्ठावान् ज्ञानी पूरा-का-पूरा फल पाने पर भी उसमें लीन नहीं होता । इसलिए उसका यह फलभोग भी खरहे के सींग की तरह केवल कहने भर ही होता है ॥ ४०-४१ ॥

अज्ञानियों को तो विशुद्ध आत्मा का पता ही नहीं चलता, इसलिए वे तो देह को ही आत्मा मानते हैं और दृश्य पदार्थ को सच समझते हैं ॥ ४२ ॥

मन्दज्ञानियों को तो शुद्ध चिन्मय आत्मा का ज्ञान होता है और दुनिया भी उसे झूठी दिखलायी देती है । फिर भी अभ्यास की कमी के कारण पहले की वासना से उनका ज्ञान दब जाता है और देह को ही वे आत्मा के रूप में देखने लगते हैं । बीच-बीच में उन्हें संसार की सत्यता का भी बोध होता रहता है ॥ ४३-४४ ॥

किन्तु उनके ज्ञानजन्य संस्कार उनकी इस झूठी परख को दूर कर देते हैं । इस तरह उनके सच और झूठ का ज्ञान आपस में मिलकर बीच-बीच में साफ ढंग से फल का भोग कराते हैं ॥ ४५-४६ ॥

हे धरती के देवता ! यद्यपि ये दोनों ही संस्कार समान रूप से आते-जाते रहते हैं, फिर भी इनका प्रभाव एक जैसा नहीं रहता । ज्ञान की वासना सच है, अतः उससे दृश्य को मिथ्या वासना जैसे बाधित होती है, उसी तरह मिथ्या वासना से सत्य की वासना बाधित नहीं होती ॥ ४६-४७ ॥

मिथ्यावाशनयाविष्टो विस्मृतः केवलां परः ।
 ततो मिथ्यावासनां तु विनिश्चित्य भ्रमात्मिकाम् ॥ ४८ ॥
 विधूय वासनां सत्यामुपैति ब्राह्मणोत्तम ।
 ततो न बाधिता सत्यवासना भवति क्वचित् ॥ ४९ ॥
 मध्यमस्य विस्मृतिर्नो न मिथ्या ज्ञानमेव च ।
 अविस्मृतस्येच्छयैव मिथ्याज्ञानं क्वचिद्भवेत् ॥ ५० ॥
 सिद्धस्यैषा स्थितिः प्रोक्ता साधकस्योच्यते शृणु ।
 यथा यथा तत्परः स्यात्तथाऽविस्मृतिरुच्छिता ॥ ५१ ॥
 पूर्णस्य विस्मृतिर्नास्ति मिथ्याज्ञानं प्रयत्नतः ।
 उत्तमस्य पुनर्ब्रह्मन् समाधिव्यवहारयोः ॥ ५२ ॥
 न भेदो लेशतोऽप्यस्ति यतोऽविस्मरणं सदा ।
 यः समाधिपरो मध्यस्तस्य याऽविस्मृतिः स्थिता ॥ ५३ ॥
 सैषा म्लाना भवेन्मिथ्याज्ञानभूमिषु भूसुर ।
 यस्तूत्तमोऽपि स्वाच्छन्दात्प्रारब्धवशतोऽपि वा ॥ ५४ ॥
 समाध्यतत्परो भूयात्तस्याम्लानैव चास्मृतिः ।
 वस्तुतः शृणु भूदेव मध्यमोत्तमज्ञानिनाम् ॥ ५५ ॥

विप्रवर ! यह मिथ्या वासना के अधीन होकर बुद्ध वासना को भूल जाता है ।
 फिर उस मिथ्या वासना को भ्रम मानकर उसे छोड़ देता है और सत्य रूप ज्ञान-
 वासना को पा लेता है । इसके बाद उसकी यह सत्य वासना कभी बाधित नहीं
 होती ॥ ४८-४९ ॥

मध्यम दर्जे के ज्ञानी को सत्य वासना कभी भुलाती नहीं और मिथ्या ज्ञान होता
 ही नहीं । वे सत्य वासना को बिना भुलाये ही कभी-कभी अपनी इच्छा से व्यवहार के
 उपयुक्त मिथ्या ज्ञान भी कुबूल कर लेते हैं ॥ ५० ॥

औसत दर्जे के सिद्ध ज्ञानी की ही यह स्थिति होती है । अब मैं तुम्हें साधक की
 स्थिति के बारे में समझाता हूँ, सुनो—साधक जैसे-जैसे अपनी आत्मा की खोज में
 लगता है उसी अनुपात में उसे अपने असली स्वरूप की याद बढ़ती जाती है । साधना
 पूरी होने पर तो अपने वास्तविक स्वरूप की वह कभी भुला ही नहीं पाता और
 मिथ्या द्वैत का स्फुरण तो काफी प्रयास के बाद ही होता है ॥ ५१ ॥

अपने स्वरूप की याद हमेशा बनी रहने के कारण उत्तम ज्ञानी को समाधि और
 व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होता ॥ ५२ ॥

समाधि में लीन मध्यम ज्ञानी को ही अपने स्वरूप की पहचान में थोड़ी भूल
 होती है । वह मिथ्या अज्ञान की स्थिति आने पर ही कुल मन्द पड़ जाती है । किन्तु
 जो उत्तम ज्ञानी है वे अपनी इच्छा से अथवा भाग्य के अधीन होने पर ही यदि वे
 समाधि में लीन न रहें तो उसे अपने स्वरूप की पहचान में भूल नहीं होती ॥ ५३-५४ ॥

कर्म नैवास्ति यत्किञ्चिद्यतस्ते पूर्णतां गताः ।
 संविदात्मातिरिक्तं यन्न ते पश्यन्ति किञ्चन ॥ ५६ ॥
 कर्म शेषं कथं शिष्येद्यतः सर्वं चिदग्निना ।
 भस्मीकृतमतस्तेषां न किञ्चित् परिशिष्यते ॥ ५७ ॥
 ऐन्द्रजालिककर्मैव त्वितरेरेव दृश्यते ।
 शृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि समामृतः ॥ ५८ ॥
 शिवस्य यादृशी सैव ज्ञानिनां दृष्टिरुच्यते ।
 नास्ति भेदो लेशतोऽपि सत्यमेतन्न संशयः ॥ ५९ ॥
 तस्मान्न किञ्चित् कर्मापि ज्ञानिवामनुवर्तते ।
 इति श्रुत्वा स वसुमान् हेमाङ्गद्वनिरूपितम् ॥ ६० ॥
 सर्वमन्देहनिर्मुक्तो विज्ञानविज्ञानाश्रयः ।
 पूजितो राजपुत्राद्यैः संस्थानं प्रत्यपद्यत ॥ ६१ ॥
 प्राप्तौ स्वन्नगरं राजपुत्रावपि ततः परम् ।
 एवं श्रुत्वा पुनः रामः पञ्चञ्चात्रिसुतं मुनिम् ॥ ६२ ॥
 श्रुतमेतादृि विज्ञानं गुरो त्वन्मुनिभिषेकम् ।
 विनष्टो मम सन्देहो विदितं त्वत्तत्त्वं पश्य ॥ ६३ ॥
 सर्वानुस्यूतविवर्तिमाद्यत्परा भाति सर्वतः ।

मुनि आह्वानदेवता । दरबारल उत्तम और यक्ष्मन बोडि के ज्ञानियों के कुछ भी कर्म हैं ही नहीं । क्योंकि उन्हें तो पूर्णता मिल गयी है । एक विद्यार्थी के शिष्य और कुछ वे देखते ही नहीं ॥ ५६-५७ ॥

अतः कोई भी कर्म बचा नहीं रह सकता है, क्योंकि जगत्-समस्त काशे जितनाकाश में अलकल राख हो जाते हैं । अतः अतः कोई कर्म बचा नहीं रहता ॥ ५७ ॥

बासीगर के हाथ की शफाई की तरह जगत् सभी काश दूधों को ही दिखलाई देते हैं । इसमें जो कुछ रहस्य छिपा है, संक्षेप में मैं तुम्हें समझा देता हूँ ॥ ५८ ॥

वसुमान् शिव की दृष्टि की तरह ज्ञानियों की दृष्टि भी होती है । इसमें कोई भी खिड़की की गुंजाईश नहीं है । अतः अतः में कोई बाधा नहीं है, अतः ज्ञानियों का कोई कर्म बचा नहीं रहता ॥ ५९ ॥

वसुमान् का सारा सन्देह हेमाङ्गन का सत्य-विज्ञान सुनकर दूर हो गया । रामा स्वतःकरण इव विशिष्ट ज्ञान के प्रकाश से प्रतीत हो गया । फिर राजकुमारों को सम्मानित होकर वह अपनी जगह लौट गया ॥ ६०-६१ ॥

इसके बाद वे दोनों राजकुमार अपनी राजधानी लौट आये । मायी रातें सुनकर राजपुत्राभ ने गुरु दत्तात्रेय से पुनः पूछा ॥ ६२ ॥

हे गुरुदेव ! आपके मुक्तकण्ठ से निकले ज्ञानोपदेश को मैंने मायधान होकर सुना । अतः मेरा सारा सन्देह मिट गया । मुझे उस परमपद की जानकारी मिल गई ॥ ६३ ॥

तथापि भवता प्रोक्तमादितः सर्वमेव तु ॥ ६४ ॥
 सङ्क्षेपेण पुनर्ब्रूहि विज्ञानं सारवत्तरम् ।
 यावद्धारयितव्यं मे गुरो सर्वात्मना मया ॥ ६५ ॥
 इत्यापृष्टः स रामेण पुनः प्राहात्रिनन्दनः ।
 शृणु राम प्रवक्ष्यामि सर्वसारतमं पुनः ॥ ६६ ॥
 या चित्तिः परमेशानी पूर्णाहन्तामयी परा ।
 सा स्वातन्त्र्याभिधामायाशक्तिमाहात्म्यतः सदा ॥ ६७ ॥
 जगदाभासयेन्नूनं दुर्घटैकविधायिनी ।
 प्रतिबिम्बवदादर्शे तत्प्रकारं शृणु क्रमात् ॥ ६८ ॥
 या सा पराचित्तिः पूर्णापूर्णाहम्भावबृंहिता ।
 स्वातन्त्र्यवशतः स्वात्मरूपं द्वेधावभासयत् ॥ ६९ ॥
 तत्रैकांशेऽप्यहम्भावो पूर्ण आभासितो यदा ।
 तदा द्वितीयभागस्तदहम्भावविनिर्गतः ॥ ७० ॥
 बाह्यमव्यक्तमभवत्तद्दृष्ट्यैव भृगुद्वह ।
 अपूर्णाहम्भावयुत एष प्रोक्तः सदाशिवः ॥ ७१ ॥
 स तमव्यक्तभागन्तु पश्यन् भिन्नमपि स्वतः ।
 अहमेतदित्यभेदादनुसन्धिपरः सदा ॥ ७२ ॥

सबमें घुला-मिला चित्मात्र आत्मा ही सब ओर दीख रहा है । फिर भी गुरुदेव शुरु से अब तक आपने जो कुछ कहा, उसे संक्षेप में एक बार जितना मैं समझ सकूँ, मुझे ध्यान में रखना चाहिए — फिर समझाने का कष्ट करें ॥ ६४-६५ ॥

परशुराम की जिज्ञासा सुनकर अत्रिपुत्र दत्तात्रेय ने उन्हें फिर समझाना शुरु किया । सुनो परशुराम ! सम्पूर्ण कथन का सार मैं तुम्हें फिर समझाता हूँ ॥ ६६ ॥

जो सर्वाधिक ताकतवाली प्रसन्नता से भरी पराचित्ति है, वह अपनी परम स्वतंत्र मायाशक्ति की महिमा से, जो असम्भव को भी संभव कर देनेवाली है, आँखों से परछाई की तरह अपने-आप में ही सारी दुनिया को दिखला देती है । उसके जगत्-प्रकाशन का प्रकार क्रमशः सुनो ॥ ६७-६८ ॥

वह जो पराचित्ति है, पूरी तरह भरी है । अहम्भाव के कारण सब जगह फैली है ! अपनी बे-नियाज ताकत की महिमा से अपने ही स्वरूप को दो रूपों में प्रकाशित किया है ॥ ६९ ॥

जब उसके एक अंश में अहम्-भाव आभासित हुआ तो दूसरा भाग अहन्ता से शून्य जड़ अव्यक्त हो गया । परशुराम उस बाहरी अव्यक्त की दृष्टि से ही वह अपूर्ण अहन्ता युक्त अंश 'सदाशिव' कहा जाता है ॥ ७०-७१ ॥

यद्यपि वह उस अविदित अंश को अपने से अलग ही देखती है, फिर भी उसे हमेशा अभेदपूर्वक यही जान पड़ता है कि यह मैं ही हूँ ॥ ७२ ॥

स एव भूयः स्वातन्त्र्यात् सिमृक्षुर्विविधं जगत् ।
 अव्यक्तमात्मनो देहमेतदेवाहमास्थितः ॥ ७३ ॥
 इत्येवमनुसन्धानपर ईश्वर आब्रभी ।
 अव्यक्तमभिमानेनाविष्ट ईश्वर एव तु ॥ ७४ ॥
 त्रिधासमभवद्रुद्रहरिद्रुहिरूपतः ।
 द्रष्टृदृश्यमहाराशिसमुदायावभासकः ॥ ७५ ॥
 विधयो विविधा आसंस्तथा तद्रूपसंस्थिताः ।
 ब्रह्मो हस्योऽप्यासंस्तत्संहारपरायणाः ॥ ७६ ॥
 अनेकशोऽभवन् रुद्रा एवमेष जगद्विधिः ।
 एवंविधं जगत्तत्त्वं दर्पणप्रतिबिम्बवत् ॥ ७७ ॥
 भासते केवलं राम न हि जातं तु किञ्चन ।
 पराचितिः प्रपूर्णाहम्भावरूपैव सर्वदा ॥ ७८ ॥
 स्थिताप्यनेका सम्पूर्णहम्भावपरिवृंहिता ।
 यथा त्वं राम सर्वस्मिन् देहेऽहम्भाववृंहितः ॥ ७९ ॥
 पृथङ् नेत्राद्यहम्भावैरपि तत्तत्क्रियापरः ।
 एवमेव परा संवित् पूर्णाहन्तासमाश्रया ॥ ८० ॥
 सदाशिवादिस्तम्बान्ताऽपूर्णाहन्ताश्चयापि वै ।
 वस्तुतः सैव परमा चित्तिरेवं हि भासिनी ॥ ८१ ॥

उसी को स्वतंत्रता के कारण फिर अनेक तरह की दुनिया रच डालने की इच्छा होती है और वह अप्रकट अपनी देह में 'मैं यही हूँ' ऐसी आस्था करने लगता है ॥ ७३ ॥

ऐसा परिशीलन करते रहने पर तो वह स्वयं ईश्वर हो जाता है । जो सम्माननीय भावना द्वारा अव्यक्त में समाया है, वहीं 'ईश्वर' है ॥ ७४ ॥

इस दृश्यवर्ण के एक बड़ी राशिरूप समूह का प्रकाशक वह द्रष्टा ही रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा के रूप में तीन तरह का हो गया ॥ ७५ ॥

इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा अनेक थे, पालक विष्णु अनेक थे और संहर्ता रुद्र भी अनेक थे । ऐसा ही इस संसार का नियम है ॥ ७६ ॥

आईने में परछाई की तरह इस दुनिया का स्वरूप यही है । परशुराम ! यह केवल दीखता ही है, दरअसल है कुछ नहीं ॥ ७७ ॥

वह भरी-पूरी पराचिति बिल्कुल गौरवमयी ही है । वह स्थिरस्वरूपा होने के बावजूद सम्पूर्ण अहंभाव के कारण सब जगह फैली हुई-सी जान पड़ती है । हे परशुराम ! जैसे तुम इस देह में अहंभाव से पूरी तरह घिरे हो, फिर भी आँख, नाक आदि के अहंभावों से भी अनेक तरह के व्यापारों में लगे रहते हो ॥ ७८-७९ ॥

इसी तरह यह पराचिति भी सम्पूर्ण 'अहन्ता' का सहारा है । फिर भी यह महाशिव से लेकर जड़ता या असंवेद्यता तक अधूरे अहंभाव का भी सहारा है । दरअसल वह पराचिति ही इन सब रूपों में दीखने वाली है ॥ ८०-८१ ॥

देहाहम्भावरूपस्त्वं स्वतो रूपरसादिकम् ।
 ग्रहीतुमसमर्थोऽपि चाक्षतादात्म्यमेत्य तु ॥ ८२ ॥
 सर्वं गृह्णासि सततमेवं देवः सदाशिवः ।
 स्वतः सर्वभेदमयो ब्रह्मादिस्तम्बराशिषु ॥ ८३ ॥
 अतस्तादात्म्यमापन्नो जानाति च करोति च ।
 यथा ते निविकल्पं तु रूपं सर्वाश्रयं हि सत् ॥ ८४ ॥
 न किञ्चिदपि जानाति करोति च भृगूद्वह ।
 एवमेव परा संवित् सर्वलोकसमाश्रया ॥ ८५ ॥
 भेदलेशमपि क्वापि न जानाति करोति च ।
 एतावज्जागतं सर्वं तस्यामेवावभासते ॥ ८६ ॥
 तत्स्वातन्त्र्यात् प्रभूतश्च दर्पणप्रतिबिम्बवत् ।
 जगतो भासनं सर्वं तस्या एवावभासनम् ॥ ८७ ॥
 यथादर्शाभास एष ऽ प्रतिबिम्बावभासनम् ।
 अत्र त्वमहमन्ये च द्रष्टारो दृढमयाः खलु ॥ ८८ ॥
 दृश्यासम्मेलने शुद्धचित्तिरेव न चेतरेत् ।
 घटादिदर्पणो यद्वद् घटादीनामसङ्गमे ॥ ८९ ॥
 शुद्धदर्पणमात्रः स्याद्विभेदः प्रतिबिम्बतः ।

तुम अपनी देह में अहंभाव से मौजूद होकर भी यद्यपि स्वयं रूप, रस प्रभृति विषयों को ग्रहण करने में असमर्थ हो, फिर भी इन्द्रियों के साथ एकरूपता धारण कर तो सब कुछ हमेशा ग्रहण कर ही लेते हो । इसी तरह भगवान् सदाशिव ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सबके साथ अभिन्न रूप ही है । फिर भी उन ब्रह्मादि की देहों में एकरूपता पा लेने पर वे ही सब कुछ जानते भी हैं और करते भी हैं ॥ ८२-८३ ॥

हे भागव ! जैसे तुम्हारा निविकल्पस्वरूप सबका सहारा और सच है । फिर भी यह न तो कुछ जानता ही है और न कुछ करता ही है । इसी तरह वह पराचिति समस्त लोकों का आधार है, फिर भी वह थोड़ा भी इस द्वैत को न तो जानती है और न कुछ करती ही है ॥ ८४-८५ ॥

दुनिया का यह सारा जंजाल उसी में दीख रहा है, किन्तु अपनी बेनियाज ताकत से वही आईने में परछाई की तरह अनेक रूप में बँट गयी है । अतः इस दुनिया का सारा दृश्य उसी का आभास है । जैसे आईने की परछाई की प्रतीति से केवल आईने का ही आभास होता है ॥ ८६-८७ ॥

यहाँ जो मैं और दूसरे देखने वाले हैं वे निश्चय ही चिन्मात्र हैं । यदि उनके साथ दृश्य की मिलावट न हो तो वे शुद्धचिति ही हैं और कुछ नहीं ॥ ८८ ॥

जैसे बड़े की परछाई से अलग आईना घड़े का संग न रहने पर शुद्ध रूप से सिर्फ आईना ही होता है । उनका भेद तो परछाई के कारण ही है ॥ ८९ ॥

एवं विकल्पसम्भूतदृश्याभासप्रमार्जने ॥ १० ॥
 शेषिता परमा संविदद्वितीयस्वरूपिणी ।
 महानन्दधना चैषा दुःखलेशविवर्जनात् ॥ ११ ॥
 सर्वानन्दधनाकारा यतः सर्वैरभीप्सिता ।
 सुखमात्मस्वरूपं स्यात् सर्वैर्यस्मादभीप्सितम् ॥ १२ ॥
 यदर्थो देहादिभावो यन्न कस्यापि नेप्सितम् ।
 यस्यैव लेशो विषयानन्द इत्यभिधीयते ॥ १३ ॥
 स एव भारहानादौ सुपुप्ती चावभासते ।
 चिदेव स्पृहणीयत्वादानन्द इति प्रोच्यते ॥ १४ ॥
 मूढा न हि विजानन्ति स्वात्मभूतं महामुखम् ।
 विभिन्नमभिजानन्ति व्यञ्जकानां विभेदतः ॥ १५ ॥
 यथा हि दर्पणे भावा भासमाना निमित्ततः ।
 यावद्दर्पणविज्ञानं भिन्ना एव विभान्ति वै ॥ १६ ॥
 विदिते प्रतिबिम्बत्वे भासमानं च पूर्ववत् ।
 न दर्पणाद् भिन्नमस्ति त्वादर्थः शुद्ध एव हि ॥ १७ ॥
 एवं विदिततत्त्वस्य जगदेतावदीदृशम् ।
 भासमानमपि स्वात्ममात्रमेव न चेतरेत् ॥ १८ ॥

इसी तरह विकल्प से उत्पन्न दृश्य रूप आभास का निषेध करने पर बची हुई पराचिति तो बेजोड़ ही है। उसमें लेशमात्र भी दुःख नहीं है, अतः वह परमानन्द रूपा भी है ॥ १०-११ ॥

सभी आनन्दों की यह घनीभूत मूर्ति है, क्योंकि सब उसे चाहते हैं। सुख तो आत्मा का स्वरूप ही है, क्योंकि सब उसकी चाह रखते हैं ॥ १२ ॥

जिसके लिए देह में प्रीति होती है, जो किसी को भी अप्रिय नहीं लगता और निराका एक कण ही विषयानन्द कहा जाता है, वह स्वरूपभूत आनन्द ही किसी तरह के बोझ के उतरने पर या माड़ी नीन्द दोख पड़ती है या उसका अनुभव होता है। दरबसल बाँधित होने के कारण चेतन को ही आनन्द कहा जाता है ॥ १३-१४ ॥

अपनी आत्मा से मिलने वाले उस परम सुख को अज्ञानी आदमी नहीं जानते। सभी लोग तो उसे व्यक्त करने वाले विषयों की विभिन्नता के कारण अपने से उसे अलग ही समझते हैं ॥ १५ ॥

जैसे परछाई रूप निमित्तों के कारण आईने में दिखने वाले पदार्थ जब तक आईने का ज्ञान नहीं होता तब तक अलग ही जान पड़ते हैं, किन्तु जब उनकी परछाईपन का ज्ञान हो जाता है तो पहले ही की तरह दिखते रहने पर भी वे आईने से अलग नहीं रहते, आईने तो निखालिश रहते ही हैं। इसी तरह जिस आदमी को तत्त्व का ज्ञान मिल जाता है, उसके लिए यह दुनिया इसी रूप में दिखलायी पड़ती है। यही अपनी आत्मा है और कुछ नहीं ॥ १६-१८ ॥

घटादिकं मृदि यथा हेमिन् यद्वद्विभूषणम् ।
 प्रतिमाश्च यथा जैले जगदेवं चिदात्मनि ॥ ९९ ॥
 जगन्नास्त्येवेति दृष्टिरपूर्णा भृगूद्रह ।
 नास्तीति विपरीतो हि निश्चयो नैव सिद्ध्यति ॥ १०० ॥
 साधकात्मजगद्दृष्टेर्भूयः सम्भवतः स्फुटम् ।
 नास्तीति शापमात्रेण कथं स्याज्जगतो लयः ॥ १०१ ॥
 आदर्शनगरं सर्वमस्त्यादर्शस्वभावतः ।
 एवं जगच्चिदात्मैकरूपं सत्यमुदीरितम् ॥ १०२ ॥
 पूर्णविज्ञानमेतत् स्यात् सङ्कोचपरिवर्जनात् ।
 दृगेव दृश्यतां प्राप्तं स्वमाहात्म्यप्रकर्षतः ॥ १०३ ॥
 यथादर्शो नगरतामेष शास्त्रार्थसङ्ग्रहः ।
 न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति साधकः साधनं च न ॥ १०४ ॥
 अखण्डाद्वयचिच्छक्तिस्त्रिपुरैवाद्वाभासिनी ।
 सैवाविद्या च विद्या च बन्धो मोक्षश्च साधनम् ॥ १०५ ॥
 एतावदेव विज्ञेयं नान्यद्भार्गव विद्यते ।
 एतत्तेभिहितं राम विज्ञानक्रममादितः ॥ १०६ ॥
 एतत् मुविज्ञाय जनो भूयः क्वापि न शोचति ।

जैसे मिट्टी में घड़े, सोने में जेवरात और पत्थर में प्रतिमाओं की प्रतीति होती है, उसी तरह चिदात्मा में यह दुनिया दीख रही है ॥ ९९ ॥

परशुराम ! 'यह दुनिया है ही नहीं' ऐसा सोचना तो अधूरा ही है । क्योंकि 'है ही नहीं' ऐसा विरोधी निश्चय किसी भी प्रमाण से मिट्ट नहीं होता ॥ १०० ॥

'है और नहीं है' इन दोनों पक्षों को मिट्ट करनेवाले चिदात्म रूप से संसार की सत्ता साफ-साफ रह ही जाती है । ऐसी स्थिति में यह संसार 'है ही नहीं' ऐसा कह देने से संसार का लोप तो नहीं हो सकता है ॥ १०१ ॥

जैसे आईने में दीखने वाला नगर तो आईने में है ही, उसी तरह यह संसार भी अद्वितीय चिदात्म रूप में सदा सत्य ही है ॥ १०२ ॥

यही पूर्ण विज्ञान है । क्योंकि इसमें किसी तरह की कमी नहीं है । दरअसल हर तरह की आवश्यकताओं और बन्धनों से रहित परम स्वतंत्रता के प्रभाव से दृक् अर्थात् शुद्ध चेतन ही दृश्य अर्थात् संसार का स्वरूप हो गया है । जैसे आईना ही अपने में प्रतिबिम्बित नगर रूप हो जाता है—संक्षेप में शास्त्रों का अभिमत यही है ॥ १०३ ॥

न कोई बन्धन है और न मुक्ति ही, न कोई साधक है और न कुछ साधन ही; एक अखण्ड एवं बेजोड़ चित्शक्ति ही चमक रही है । वही विद्या है, वही अविद्या है, वही बन्धन है, वही मोक्ष है, वही साध्य और साधन भी है ॥ १०४-१०५ ॥

हे भार्गव ! इतनी ही बातें जानने योग्य हैं और कुछ नहीं । ज्ञान पाने का यह

नारदेष ज्ञानखण्डः सूपपत्त्युपलब्धिकः ॥ १०७ ॥
 श्रुतो न नाशयेत् कस्य मोहमज्ञानसम्भवम् ।
 श्रुत्वाप्येतद्यस्य मोहो न शान्तिं प्राप्नुयात् क्वचित् ॥ १०८ ॥
 स शैलपुरुषो लोके केन ज्ञानं पुनर्भवेत् ।
 मकुदेव श्रुतं ह्येतद्विज्ञानं जनयेद् दृढम् ॥ १०९ ॥
 द्विधा त्रिधा वा मन्दस्य ज्ञानं न जनयेत् कथम् ।
 एतत् पापौघशमनं श्रुतं विज्ञानदं मतम् ॥ ११० ॥
 लिखितं दृष्टिदोषघ्नं पूजितं चित्तशोधनम् ।
 मूढतानाशनं चैतत् सर्वदा परिशीलितम् ॥ १११ ॥
 सर्वात्मभूतं यद्रूपं विचार्याविगतं स्फुटम् ।
 मुक्तिः स्यादन्यथा बन्धः सा भवेत्त्रिपुरैव ह्रीम् ॥ ११२ ॥
 इति श्रीनरदिहासोत्तमे त्रिपुरारहस्ये द्वादशसाहस्रश्रुतिं संहितायां
 ज्ञानखण्डे द्वाविंशोऽध्यायः ।

गिलसिला शुरू से ही मैंने तुम्हें सुनाया है । इसे ठीक से हृदयङ्गम कर लेने पर किसी आदमी को किसी तरह का शोक नहीं होता है ॥ १०६½ ॥

हारितामन मुनि ने नारद से कहा—यह ज्ञानखण्ड अच्छी तरह सुन्दर मुक्ति और अनुभव से भरा है । यदि इसे ध्यानपूर्वक सुना जाय तो ऐसा कौन आदमी है जिसका अज्ञानजनित मोह भंग न हो जाय ? ॥ १०७½ ॥

यह सुनकर भी जिसका मोह भंग न हो, वह इस दुनिया में आदमी होकर भी पत्थर की प्रतिमूर्ति है । उसे फिर किसी से ज्ञान नहीं मिल सकता ? ॥ १०८½ ॥

इसे जो एक बार सुन लेता है, उसका ज्ञान पक्का हो जाता है । दो-तीन बार उसे सुनने पर मन्दबुद्धि व्यक्ति भी ज्ञानी बन जाता है ॥ १०९½ ॥

इसे जो सुनता है, उसका पाप विनष्ट हो जाता है । वह विषाद ज्ञान पा लेता है । इसे जो लिखता है, उसका दृष्टिदोष मिट जाता है । जो इसकी पूजा करता है, उसका चित्त पवित्र हो जाता है । जो इस पर विचार करता है, उसका अज्ञान रादा के लिए मिट जाता है ॥ ११०-१११ ॥

जो सबकी आत्मा के रूप में सर्वत्र उपलब्ध है, उसे विचारपूर्वक साफ-साफ जान लिया जाय तो फिर उस जानकार को मुक्ति मिल जाती है । अन्यथा उसके लिए बन्धन तो है ही । यह देवी त्रिपुरा का स्वरूप ही है ।—ह्रीम् ।

बाईसवाँ अध्याय समाप्त ।

शके रसेन्दुनिधिचन्द्रे धिषणेकुह्निवाह ले ।

समाप्तिरगम् व्याख्या विमलेयं मयेरिता ॥

आत्मपरिचयः

साक्षात् शक्तिस्वरूपिणीं सुखमयीं सौभाग्यसंबद्धिनीम् ।
माता मे च सरस्वतीं सुकृतिनीं धर्मकनिष्ठामयीम् ॥
शास्त्रज्ञानप्रवीणशुद्धचरितः श्रीकोतिनाथः पिता ।
तज्जोऽहं जगदीशचन्द्रमुदितः प्राप्तावकाशः गृही ॥
चन्द्राङ्गुवसुभूशाके चाषाढस्याऽसिते दले ।
सप्तम्यां रविवारे च निशायाः पश्चिमे पले ॥
दत्त्वाशिषश्च मे तात क्षिप्त्वा गृहधुरम्मयि ।
बैकुण्ठाधिपतिं ध्यात्वा बैकुण्ठञ्च समाययौ ॥
(६-७-१९६९)
बाणव्योमाङ्गचन्द्राब्दे शाके ज्येष्ठासिते शनौ ।
द्वितीयायां समाप्येह लीला मे जननीं ययौ ॥
(मई, १९८३)

—डॉ० जगदीशचन्द्रः

श्लोकानुक्रमणिका

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अ		अत एव मोहितास्ते	२४७
अज्ञाना वापि कृत्वा वा	१२७	अतस्परस्वहेतोस्तु	२१९
अज्ञानात्करणदीनां	२७१	अतस्त्वज्ञे हि सा भ्रान्ति	३०२
अज्ञानाद्द्वयविच्छक्तिः	३१२	अतस्किं व्रजन् ववापि	२१५
अज्ञानं बाधितं जाग्रद्	१६६	अत एव तैमिरिकः	३०२
अज्ञानाद्देवद्विदग्धे	४२	अतस्तस्योद्भवो लोके	५८
अज्ञानदेहति मत्यादीं	१७३	अतस्तादात्म्यमापन्नो	३१०
अज्ञानः पश्यन्त्यात्मरूपम्	२३९	अतस्तु भासकं शुद्धं	१७६
अज्ञानं सविकल्पाख्य	२१७	अतस्ते योषितोऽप्येवं	९९
अज्ञानस्य निवृत्त्यन्तं	२१८	अतस्तैस्तत्पदे जाते	२६२
अज्ञानिनां कर्मफलं	३०४	अतिक्रान्ता अतो लोक	१५९
अज्ञानिभिस्तु शुद्धात्मा	३०५	अतितीव्रप्रवृत्त्यैव	२५७
अज्ञानात्तामपि न हि	१६७	अतिप्रियं स्वपुत्रादि	२१५
अज्ञेयत्वे ह्यसिद्धः स्यात्	२३३	अतिश्चित्तिं जना सर्वे	५३
अज्ञः परः श्रुतमपि	२१९	अतीता बन्धवो नष्टाः	१६३
अज्ञः परमकं श्रेय	९३	अतो गुरुत्वायोऽत्र	११०
अज्ञः पौरुषमाश्रित्य	९२	अतो निद्रास्मृतिरपि	२०८
अज्ञः प्रतीत्यैव युक्ता	८४	अतो बहिः पदार्थोऽपि	२३४
अज्ञः प्रमाता प्रमितं	८६	अतो हि दृश्यदेहाद्यम्	१०२
अज्ञः प्रसादनपरो	१५०	अत्यन्तं भ्रान्तिमायाति	६९
अज्ञः सर्वसाधनस्य	२५५	अत्यन्तशोकसंविष्टो	१६१
अज्ञः गुणुप्तिरेव स्यात्	२१३	अत्यन्ताभाव आकाश	२४२
अज्ञः स्वात्मानि विश्रान्तिः	२४१	अत्युत्तमेषु भोगेषु	३६
अज्ञः शरीरं करणं	१०१	अत्र ते वर्णयिष्यामि	१४८
अज्ञः शरीरं नास्त्येव	१०१	अत्र ते कथयिष्यामि	१८९
अज्ञः सद्योजातशिखो	२०८	अत्र ते सम्प्रवक्ष्यामि	२०४
अज्ञः आत्मप्रदेशो य	२४३	अत्र ते वर्तयिष्यामि	२६७
अज्ञ एव प्राणायामैः	९८	अत्र मुह्यन्ति बहवः	२०५
अज्ञ एव हि भावानां	१४६	अत्र मुह्यन्ति बहवः	२४१
अज्ञ एव शुद्धमनो	२०६	अत्र सर्वे न पश्यन्ति	१९७

आत्मपरिचयः

साक्षात् शक्तिस्वरूपिणीं सुखमयीं सौभाग्यसंवर्द्धिनीम् ।
माता मे च सरस्वतीं सुकृतिनीं धर्मकनिष्ठामयीम् ॥
शास्त्रज्ञानप्रवीणशुद्धचरितः श्रीकीर्तिनाथः पिता ।
तज्जोऽहं जगदीशचन्द्रमुदितः प्राप्तावकाशः गृही ॥
चन्द्राङ्गवसुभूशाके चाषाढस्याऽसिते दले ।
सप्तम्यां रविवारे च निशायाः पश्चिमे पले ॥
दत्ताशिषश्च मे तात क्षिप्त्वा गृहधुरम्मयि ।
वैकुण्ठाधिपतिं ध्यात्वा वैकुण्ठञ्च समाययौ ॥
(६-७-१९६९)

बाणव्योमाङ्गचन्द्राब्दे शाके ज्येष्ठासिते शनौ ।
द्वितीयायां समाप्येह लीला मे जननीं ययौ ॥
(मई, १९८३)

—डॉ० जगदीशचन्द्रः

श्लोकानुक्रमणिका

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अ		अत एव मोहितास्ते	२४७
अकृत्वा वापि कृत्वा वा	१२७	अतत्परत्वहेतोस्तु	२१९
अक्षान्तःकरणादीनां	२७१	अतत्त्वज्ञे हि सा भ्रान्ति	३०२
अखण्डाद्वयचिच्छक्तिः	३१२	अतर्कितं व्रजन् क्वापि	२१५
अखिलं बाधितं जाग्रद्	१६६	अत एव तैमिरिकः	३०२
अखिलाङ्गे बल्लिदग्धे	४२	अतस्तस्योद्भवो लोके	५८
अग्निर्दहति मर्त्यादीं	१७३	अतस्तादात्म्यमापन्नो	३१०
अज्ञाः पश्यन्त्यात्मरूपम्	२३९	अतस्तु भासकं शुद्धं	१७६
अज्ञानं सविकल्पाख्य	२१७	अतस्ते योषितोऽप्येवं	९९
अज्ञानस्य निवृत्त्यन्तं	२१८	अतस्तेस्तत्पदे ज्ञाते	२६२
अज्ञानिनां कर्मफलं	३०४	अतिक्रान्ता अतो लोक	१५९
अज्ञानिभिस्तु शुद्धात्मा	३०५	अतितीव्रप्रवृत्त्यैव	२५७
अचलानामपि न हि	१६७	अतिप्रियं स्वपुत्रादि	२१५
अचेतने ह्यसिद्धः स्यात्	२३३	अतिश्रितं जना सर्वे	५३
अतः परः श्रुतमपि	२१९	अतीता बन्धवो नष्टाः	१६३
अतः परमकं श्रेय	९३	अतो गुरुपायोऽत्र	११०
अतः पौरुषमाश्रित्य	९२	अतो निद्रास्मृतिरपि	२०८
अतः प्रतीत्यैव युक्ता	८४	अतो बहिः पदार्थोऽपि	२३४
अतः प्रमाता प्रमितं	८६	अतो हि दृश्यदेहाद्यम्	१०२
अतः प्रसादनपरो	१५०	अत्यन्तं भ्रान्तिमायाति	६९
अतः सर्वसाधनस्य	२५५	अत्यन्तशोकसंविष्टो	१६१
अतः सुषुप्तिरेव स्यात्	२१३	अत्यन्ताभाव आकाश	२४२
अतः स्वात्मनि विश्रान्तिः	२४१	अत्युत्तमेषु भोगेषु	३६
अतः शरीरं करणं	१०१	अत्र ते वर्णयिष्यामि	१४८
अतः शरीरं नास्त्येव	१०१	अत्र ते कथयिष्यामि	१८९
अतः सद्योजातशिशो	२०८	अत्र ते सम्प्रवक्ष्यामि	२०४
अत आत्मप्रदेशो य	२४३	अत्र ते वर्तयिष्यामि	२६७
अत एव प्राणायामैः	९८	अत्र मुह्यन्ति बहवः	२०५
अत एव हि भावानां	१४६	अत्र मुह्यन्ति बहवः	२४१
अत एव शुद्धमनो	२०६	अत्र सर्वे न पश्यन्ति	१९७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अत्राधुनास्मीतिरूपा	२१८	अनपेक्षयैव यत् किञ्चित्	२७२
अत्रोपपत्तिं वक्ष्यामि	१३५	अन्यत्तुर्यतनयो	६५
अयं चित्स्वातन्त्र्यभरात्	१८१	अनन्यशरणं भवतं	१९
अथ तत्र मृगान् सिहान्	३१	अनया विहता राम	२५४
अथ तृतीयतनय	६५	अनयैव हि सर्वोऽयं	२५५
अथ ते कथयाम्यद्य	२	अनवस्थस्य राज्यन्तु	९६
अथ ते बन्धवः कस्य	१६३	अनवस्थिततर्कस्य	८५
अथ दृष्टवोत्सङ्ग एतं	१५४	अनवस्थिततर्को वै	८५
अथ देहस्य चात्मत्वं	११४	अनवस्थिततर्कत्व	९०
अथ धैर्यं समालम्ब्य	१५७	अनवस्थिततर्कतं	९१
अथ निश्चितमात्मारूप्य	२२२	अनवस्थिततर्कण	९१
अथ प्राप्ता मुहूर्तन	११७	अनस्तमितभारूपो	२२७
अथ प्राह ब्राह्मणाग्र्य	२९८	अनादरेण श्रुतश्च	९०
अथ प्रोचुर्ऋषिगणा	२६९	अनादिकालतो भीमे	२०
अथ भूयः स कस्मिंश्चिद्	१०४	अनादिकालाद्रामात्र	२४५
अथ राजकुमारास्ते	१४९	अनादिमिथुनं यत्तत्	२७१
अथ शृङ्गे हेमगिरे	१५७	अनादृत्य साधनैक	२७९
अथ स्मृतिं समासाद्य	२२४	अनारम्भः स्वभावेन	२८७
अथाऽऽजगाम तत्पुत्रः	१५०	अनालोच्य फलञ्चापि	११
अथान्यथापि वक्ष्यामि	२१५	अनाश्वासस्य मूलन्तु	२७७
अथाऽपश्यदन्धकारं	११५	अनाहतोऽस्ति बालस्य	१३२
अथाऽपश्यद्राजसुतं	११७	अनिच्छया विकल्पस्य	१७२
अथापि लोके दृष्टोऽस्ति	२३६	अनिर्मलान्तःकरणै	२८७
अथ मामुपसम्प्राप्तो	१४	अनीशा तत्परैवासं	६२
अथालक्ष्य राजपुत्रं	३५	अनुकम्प्यो यद्यहं	१५१
अथासाद्य बहिर्वृत्तिं	३	अनुष्ठानं च भवति	२२७
अथास्थितो मया सम्पद्य	६३	अनुक्तं सर्वयैव	४८
अथाह हेमाङ्गदोऽपि	३०३	अनुवृत्तिः कारणेन	१६७
अथैवं प्रणतं रामं	१२	अनुवृत्तिर्भवेत् पूर्वं	२६५
अथोत्थाय गुरुक्त्या स	१२	अनुष्णाशीतस्पर्शानि	६५
अथोत्थितो महासेनो	१५९	अनूतना सर्वदाऽसि	२६९
अद्यमानाभनेकैस्तु	२२७	अनेकचित्रनिर्माण	६१
अनन्तजन्मसुकृतं	२२२	अनेकभेदभिन्नापि	१४१
अनन्तवासनापङ्क	२५३	अनेकरसतैव स्यात्	१४३

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अनेकशोऽभवन् रुद्रा	३०९	अपरेयं महाभ्रान्ति	२४९
अन्तःशान्ता बहिर्लोक	२५१	अपश्यमन्धकारश्च	११८
अन्तरत्यच्छमुस्वान्तो	२९०	अपश्यत् तद्गणं तत्र	१५०
अन्तर्बहिर्वा यत् किञ्चित्	१७७	अपश्यदग्रं भूपं	१५२
अन्तर्हितं यदि तदा	१२७	अपाचितमपक्वं स्यात्	३०३
अन्तवत्तु द्वितीयं स्याद्	२७५	अपि किञ्चित् प्राप्य चैनं	२९३
अन्धकारसमाच्छन्नं	१२०	अपूर्णं तत्परत्वे तु	२७६
अन्धस्याभासमानञ्च	२३७	अपूर्नितारतम्येन	२५२
अन्धीभूता विचिन्वन्तः	२०	अपूर्वंमासादितं मे	२२४
अन्धी निमज्जतो नौका	१९	अगृच्छत् प्राञ्जलिर्भूत्वा	१५३
अन्यथा नैव विषय	१०७	अगृष्ट्वा स्वस्वाऽभिमत्	२३७
अन्यथा लोष्टकुड्यादे	२०८	अप्यसत्यं मयोक्तं यत्	८१
अन्यथा चेष्टते भूयो	२०	अप्यसत्यात्मकं यस्मात्	१७
अन्यथानादिसंसारे	९६	अप्यस्खलितवर्णा या	२८१
अन्यथा हि प्रमाता नो	८४	अप्यावरणदोषः स्यात्	२४४
अन्यस्मृत्यनुसन्धाना	२०९	अप्रकाशोऽपि वस्तुनाम्	१४२
अन्यानपेक्षणेनैव	१४२	अप्रकाशो यथा भाति	१९७
अन्यानपेक्षभासं स्यात्	२४८	अप्रमाणदृशिनास्ति	१६८
अन्यानपेक्षमेतत्तु	२८५	अप्रष्टुर्नैव विद्या स्यात्	२३७
अन्यानुल्लेखमात्रेण	२२३	अप्राप्तस्य भवेत् प्राप्ति	१२०
अन्यासक्ता गुडभावा	४७	अप्राप्तस्यापि सम्प्राप्तिः	२२६
अन्यूनाधिकभावाः स्यात्	२८१	अप्राप्तावात्मता न स्यात्	११९
अन्ये दुर्भागधेयास्ते	२२१	अप्राप्य तं मुनेः प्रश्ने	१६४
अन्येऽपि योगाः कथिताः	९४	अप्रेक्षणीयां चेटीं तां	४८
अन्येभ्यस्तु परावृत्ति	२०५	अबाधितः स्थिरश्चापि	१६६
अन्येभ्यस्तु परावृत्ति	२०५	अबुद्धिमत्कर्तृकं कार्यं	९५
अन्येषान्तु परीक्षायाम्	२८८	अभावः स्यादभावाद्दे	२४८
अन्यो मोक्षो न सम्भाव्यः	२३२	अभाव्यमानं चैतत्तु	१६९
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां	१३६	अभिमानो न कर्तव्य	१५०
अन्विष्यान्विष्य विहिता	१२१	अभून्मूच्छितकल्पा सा	६९
अपार्श्वशानुच्चरितं	२६४	अभ्यासातिशयात्तस्य	२८९
अपाराधः पौरुषस्तु	२५४	अभ्यासान्मणिमन्त्राद्यैः	१४४
अपाराधकर्मकाम	२५३	अभ्यासेनाविलीनाश्च	२६१
अपारे तु स्वरूपे हि	१०३	अमितत्वात्सृष्टिरियं	१४५

श्लो०	पृ०
अयत्नेनैव परमे	२८२
अयमेवंविध इति	२०९
अयमेवंविध इति	२०९
अरिक्तात्मभावहेतो	१४३
अर्थक्रिया न क्वचिच्च	२३६
अर्थक्रिया हि सन्दृष्टा	२४७
अर्बुदानां द्वादशकम्	१५८
अर्हन्तं वासुदेवञ्च	९९
अलं ऋजीषरोमन्थ	१२६
अलक्षितं चाऽपि मसी	२०८
अलमेतेन बाह्येन	२२५
अल्पविद्यं मायिनञ्चा	९३
अवच्छेदनहेतूनां	२१७
अवभासयदात्मानं	२३९
अविचारः परो मृत्यु	२२
अविचारहता दैत्या	२३
अविचाराद्धरिः पूर्व	२४
अविचाराद्विधिरपि	२३
अविदित्वा स्वं निधानं	२२५
अविदित्वा भावममुं	१२१
अविद्यायास्तु सामर्थ्यं	१०७
अविवेकान्नोपलब्धि	२९५
अविवेकाः केन नश्येत्	२९५
अविवेकोऽपृथक् ज्ञान	२९५
अव्युत्पत्त्या न जानन्ति	२२९
अव्याप्तौ तु चित्ता यहि	२३३
अव्यक्तभित्तिमात्रं स्यात्	१८४
अव्यक्तमेतदेवोक्तं	१८२
अव्यक्तं यत् प्रथमजं	२१३
अविशेषात्तच्छरीरैः	१६४
अवेद्यं चेत् सर्वयैव	२००
अवेद्यं विदितं तच्चेद्	१९२
अशनाद्वसनाद्वाचो	५८
अशरीरोऽचेतनो वा	१००

श्लो०	पृ०
अशृणोद्विविधान् शब्दान्	६४
अशेषोत्पादयित्री त्वं	२६९
अश्रद्धया हतप्रज्ञो	८५
अश्रद्धस्तरुणः पत्न्यां	८२
अश्रद्धेयं कुतो वा तत्	८७
अश्रद्धो वा भुवं कस्मात्	८२
अश्रोषं खे सिद्धगण	२२४
अश्वमेधराजसूया	१३०
अश्वस्य रोधकान् सर्वान्	१४८
असंवेद्यं प्रकाशेत	१९७
असङ्कल्पेन तद्रूपम्	३०१
असङ्ख्यकालमपि च	१८४
असङ्ख्याताः स्वदेहोत्था	१६३
असञ्चरित्रयात्यन्तं	६०
असता नरशृङ्गेण	२३८
असत्यत्वेन विज्ञातं	२६६
असत्यमेव जानाति	८१
असत्सु कृत्वा श्रद्धां ये	८३
असत्सु नो विघातव्या	८३
असन्दर्भेण किमहं	७९
असमर्थः स्थूलरूपं	१०३
असम्यग् भासनञ्चान्य	११८
असुखं नहि दुःखं स्याद्	१६
अस्ति जानासि यदि तद्	१९४
अस्ति तन्नैव विज्ञातुं	२५४
अस्तित्वा हि पदार्थानां	१४२
अस्तित्वीजं श्रेयसोऽस्मिन्	५९
अस्थिरं स्ववशे चक्रे	६९
अस्थिरः पीडितोऽप्यन्तं	६८
अस्थिरस्यापि या माता	७१
अस्थिरस्तु पुत्रगृहे	६६
अस्थिरस्तु यदा मुप्तः	७१
अस्थिरस्य सखा योऽयं	७१
अस्थिराख्यं स्वपुत्रं सा	६२

श्लो०	पृ०
अस्थिराह्नः शिक्षितोऽभूत्	६२
अस्थिरेणास्थिरत्वञ्च	६९
अस्थिरोऽपि क्षणेनैव	६३
अस्मान् राम तथा पश्य	२६१
अस्मिन् पुरे सखीपुत्रो	७१
अहं कदाचिन्नास्मीति	११५
अहन्तया समाक्रान्ता	११४
अहन्त्वेनैव गृह्णाति	१३९
अहं पृच्छामि किञ्चित्वां	१९२
अहं वाद्यावधि कुतः	३०
अहं बुद्धिं न व्यतीत्य	२०२
अहं सख्यनुरुक्ता तान्	६३
अहो देवहता भासि	१२६
अहो नृपात्मज कथं	३०३
अहो भगवती माया	२२१
अहो महन्वित्रमेतत्	१०
अहो मे चित्तमोहोऽयं	२२५
अहो यथान्धानुगतो	६
अहो यथावदात्मानम्	११४
अहो लोकास्तथा स्वात्मा	२२५
अहोऽविचारमाहात्म्यं	१०
अहोऽस्य सुखलेशस्य	११६
अहो स्वयं खण्ड्यात्मा	२३०
आ	
आकाशमेव विज्ञास्तु	२३९
आकाशादपि विस्तीर्णा	२५५
आकाशाद्वितता या स्यात्	२९४
आकाशे कोमलेऽत्यन्त	२४३
आक्षिपत्तत्र सभ्यास्तु	१९०
आमच्छति पिता सद्य	३५
आगतं कण्ठसंलग्नं	३६
आचार्यं मेऽधिक्षिपसि	२९८
आचार्यमतभेदाच्च	८७
आच्छादितं स्वस्वातन्त्र्यं	२४०

श्लो०	पृ०
आजगाम वनाद्यत्र	३५
आत्मत्वभावनं नूनं	२७९
आत्मलाभेन हेतुः स्यात्	१२०
आत्मविज्ञानसिद्धेस्तु	२८०
आत्मविद्याविद्यावेता	२८०
आत्मा भवेन्मम तथा	११७
आत्मानं बुद्धिमपि वा	२१६
आत्मानमन्यच्चान्यच्च	११७
आत्मा व्यवसितः सर्वे	२७९
आत्मैव मायया ज्ञातृ	२७६
आदर्शं न विजानासि	१९४
आदर्शनगरप्रख्यं	१०३
आदर्शनगरं सर्वम्	३१२
आदर्शो ह्यचलस्तत्र	१४५
आद्याऽन्येभ्यः परावृत्तिः	२०५
आनन्दार्णवनिर्भन	७४
आनन्दिताहं भवामि	७१
आनयन्ति स्वायतनं	६४
आन्तरं बाह्यमपि ते	१२
आन्तरोऽभिनवोऽज्यो वा	२०९
आपातदर्शनादेव	२८८
आप्तेष्वश्रद्धितं मूढं	८२
आब्रह्मसुखमेतस्य	२२४
आभातकल्पमेव स्यात्	२०४
आमयाः प्रायशः सर्वे	५८
आयान्तं स्वनिकेतं तं	१०४
आयास्यति स भगवान्	३५
आराधयेदकापट्यात्	२६
आलक्ष्यराजपुत्रोऽपि	४५
आलम्ब्यभेदतच्चापि	१७
आविरासीच्चिदाकाश	२६९
आवृतप्राधान्यतस्तु	२४३
आवृत्यभिहृतिः स्फूर्त्यपि	२४४
आश्वस्तचित्तस्त्रिपुरां	१०४

श्लो०	पृ०
आसवते मयि चापि त्वं	३६
आसने मृदुतूलाढ्ये	११३
आसादयति तन्निष्कं	१२०
आसादितपरतत्त्वौ	१३१
आसीत्सृष्टेः पुरा तस्मात्	१३९
आहूतैरनुसन्धानै	२६४
आहोस्वित् सत्य एष स्यात्	११६

ओ

औषधेन तु देवानां

१७२

इ

इतस्ततः समाकृष्टः	६९
इति दत्तात्रेयमुखा	२५२
इति निश्चित्य द्वारेण	११७
इति निश्चित्य भूयोर्हं	२२५
इति पर्यनुयुक्तोऽपि	२०७
इति पूर्वोत्तरवचो	१९४
इति पृष्टः पुनस्तेन	२५२
इति पृष्टः प्राह रामं	२५८
इति पृष्टा हेमलेखा	९०
इति प्रियोदितं श्रुत्वा	१३०
इति व्यवस्य सहसा	११
इति शुङ्गवचः श्रुत्वा	८६
इति श्रुत्वा हेमलेखां	५८
इति श्रुत्वा शैललोका	१८६
इति श्रुत्वा परां वाणीं	२६९
इति सम्प्रार्थितो दत्त	४
इति सम्प्रार्थितो राजा	१५५
इतोऽपि चिरकालेन	१६०
इत्यत्रिसूनुरापृष्टो	१८८
इत्यष्टाङ्गकवचनं	१९४
इत्याकर्ण्य मुनिवचो	१७१
इत्यागमप्रसिद्धोऽर्थः	१४०
इत्यादि सन्ति बहुधा	२७२

श्लो०	पृ०
इत्यापृष्टः स रामेण	३०८
इत्यापृष्टा तापसी सा	१४९
इत्यापृष्टा महाविद्या	२७०
इत्यापृष्टो भार्गवेण	१४७
इत्युक्तः प्रियया हेम	११२
इत्युक्तः प्रियया हेम	१२४
इत्युक्तः पुनरप्याह	१६५
इत्युक्तः प्राह भूयस्तं	२९३
इत्युक्ता हेमलेखा सा	८४
इत्युक्ता साऽन्नवीद्धेम	११९
इत्युक्ता सा प्रियं प्राह	१२६
इत्युक्ता सा परा विद्या	२८३
इत्युक्तो गण्डशैलं स	१५३
इत्युक्तो मुनिपुत्रोऽपि	१६२
इत्युक्तो नृपपुत्रं तं	२९४
इत्युक्त्वा चरणीं मूर्ध्ना	१९
इत्युक्त्वा भक्षणोद्युक्तं	२९३
इत्युक्त्वाऽऽरुह्य सोष्माग्रं	११३
इत्युक्त्वा तद्गुणो भूयः	१५५
इत्युक्त्वा मीलिताक्षं तं	१५६
इत्युक्त्वा भूमृता तेन	१५८
इत्युक्त्वा नृपतिं हस्ते	१६९
इत्युक्त्वा सम्मतिं चक्रुः	१९१
इत्येतत्ते समाख्यातं	१५५
इत्येवं प्रश्नमाकर्ण्य	२३६
इत्येवमनुसन्धानेन	३०९
इदं तदितिरूपेण	२४६
इदमेवात्मनो रूपं	११८
इमां वेणामनुनदीं	३३
इयं स्यादपरिच्छिन्ना	२८०
इयमेव हि मायाख्या	२४२
ई	
ईश्वरानुग्रहश्चापि	२५७
ईश्वरेच्छादितो यापि	१३७

श्लो०
ईश्वरो हि जगज्जाल

उ

उत्थाय हर्षभरितः
उत्पत्तिर्नूतनाभास
उत्तमज्ञानिनां तत्तु
उत्तमज्ञानिनामात्म
उत्तमज्ञानिनश्चैते
उत्तमज्ञानिनो भान्ति
उत्तमाः सकृदादेश
उत्तमानां नहि क्लेशः
उत्तमानान्तु तत्काल
उदासीनां सदा दृष्ट्वा
उद्यानं नन्दनसमं
उन्मत्ताश्च ततोऽभूवन्
उन्मील्य नयने पार्श्वे
उन्मील्य न प्राप्यते किं
उन्मेपयदागमार्थि
उपगच्छाम्यहं नित्यं
उपदेशाद्बिदुः सर्वे
उपपत्त्युपलब्धिभ्यां
उपलब्धिस्वरूपत्वात्
उपासने बहुविधम्
उपेक्षेत कदाचिद्दो
उलूकादिदिवान्धानां
उवास तैविचित्रेषु

ऊ

ऊर्ध्वं विष्वक् च सम्पश्यन्
ऊपरा भूर्ध्वरा स्यात्

ऋ

ऋचो यजूंषि सामानि
ऋषयो न भयं क्वापि

ए

एक एव हि सर्वस्य

पृ०

१००

३

१३६

३०४

२६४

२६६

२६५

२२४

२२४

३०४

३६

११२

२१

११८

१२५

२५८

४४

१३१

२

२२९

९६

९६

१४६

७३

श्लो०

एकमेव सुखं दुःखं

एकरूपो यथाऽऽदर्श

एकस्मिन्नपि शोकः स्यात्

एकस्यापि हि कामानां

एकाग्रमानसः पश्य

एकान्तग्रहणे वापि

एकापि साऽतिवितता

एतच्चित्रं भासते वै

एतज्जगद् कार्यभूतं

एतज्ज्ञानात् कथं मोक्ष

एतत् सर्वं केन भवेत्

एतत्ते सम्प्रवक्ष्यामि

एतदेव पुमान् प्रोक्तः

एतदेव परं तत्त्व

एतद्द्वयमृते नास्ति

एतद्वेदनमत्यन्तं

एतत् पदं निजं रूपं

एतत् परा चित्तिः प्रोक्ता

एतत्सर्वमशेषेण

एतत्सर्वं मुकुपया

एतदादीनि लक्ष्माणि

एतदेव हि तच्छक्ति

एतदेव हि विज्ञानम्

एतदेव हि विज्ञेय

एतद्यदुक्तं भवता

एतत् सुविज्ञाय जनो

एतद्वो ऋषयः प्रोक्तं

एतन्मे ब्रूहि भगवन्

एतन्मे शंस राजेन्द्र

एतन्मे राजतनय

एताभिस्तिमृमी राम

एतावत्सु सभासत्सु

एतावदेव सोपानं

पृ०

४०

२३७

१६२

२५५

२१९

८२

२५४

१७३

९४

२५४

२९६

१००

१८२

२०६

२४५

२००

१२३

१७७

१८८

२८४

२८७

१८७

२१६

२७५

१६

३१२

२८३

१६४

२१६

३०१

२५५

१९५

९९

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
एतावदेव विज्ञेयं	३१२	एवं मम सखी स्वच्छ	६२
एतावद् दुर्लभं लोके	१०४	एवमुक्ता हेमलेखा	१०६
एतावानेव भेदः स्यात्	२४७	एवमेव भवेद्यन्मे	१६
एते हि चाक्षुषा भावा	१७४	एवं रामेणानुयुक्तो	५६
एनं पश्य महाशैलं	१६०	एवं लोकांश्चिरादेषो	२६
एवं च किं दीपमुखा	१९७	एवं वदन्तं नृपतिं	१५६
एवं चित्तिः सर्वगता	२०६	एवं वारुणिना प्रोक्ताः	१९०
एवं चित्तिमृते किञ्चित्	२३८	एवं विकल्पस्यापोहे	२२३
एवं चित्तेर्विशुद्धैक	१४४	एवं विचित्रदुष्टाक्षाः	१७४
एवं चिदात्मविज्ञाना	२५०	एवं वित्तिरियं वेद्या	२०२
एवं चिरतरे काले	७३	एवं विदिततत्त्वस्य	३११
एवं जना हितेच्छाभिः	२२	एवंविधं हि भारुणं	१७७
एवं जीवेश भेदादि	१२८	एवंविधं स्ववृत्तं मे	१०९
एवं तत्र नरा नार्थो	१३२	एवंविधमहामोक्षे	२७६
एवं तस्यात्यगात्कालो	५	एवंविधन्तु चित्तत्वं	२३३
एवं तस्या वचः श्रुत्वा	५६	एवंविधां समालोक्य	४६
एवं तेन समापृष्टा	५९	एवंविधापि विद्या	९३
एवं दत्तात्रेयमुखा	१४७	एवंविधैकरूपाऽपि	१७९
एवं देवो जगच्छून्य	१३९	एवं विनिघ्नतोवंन्यान्	२३
एवं निरूपणाद्यैस्तु	२८५	एवं विलिप्ते मनसि	२०८
एवं परचितेः स्वच्छ	२४०	एवं विषं कस्यचित्स्यात्	१४६
एवं पूर्णानन्दरूपे	२२६	एवं व्यावृत्तभावानां	२०५
एवं पृष्टस्तथा प्राह	१२५	एवं शीतं धनं द्वाराः	४१
एवं प्रकाश्यभूतेषु	१९७	एवं सङ्कल्प्यते यद्यत्	२३१
एवं प्रियावचः श्रुत्वा	७९	एवं सकलक्षिते तु	२३१
एवं प्रियावचः श्रुत्वा	१०४	एवं सत्तर्कगमाभ्यां	९५
एवं प्रोक्तः स्ववृत्तान्तः	१०८	एवं सत्सङ्गमाहात्म्यं	५६
एवं प्रोक्तानि लक्ष्मा	२८८	एवं सर्वे जागतास्तु	१७३
एवं प्रोक्तो हेमचूडः	३९	एवं सा परमा संवित्	१८२
एवं बहुविधा मर्त्याः	५०	एवं स्थिते कुतो राजन्	१६८
एवं बहूनि वर्षाणि	६८	एवं स्वात्मविदो माया	१६५
एवं बुद्धिः केन च मे	११५	एवमन्यत्रोपयोज्ये	५१
एवं भूयोऽतिदुःखेन	७३	एवमन्ये ऋषिगणा	२६६
एवं सिद्धिमनुप्राप्त	२८२	एवमन्ये सुरा देवा	२५

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
एवमेव भावनया	१४८	कथमेतज्जगद्दृश्यं	१३५
एवमेव जनानां तु	१६०	कदाचित् कृमिकीटादि	१६१
एवमेष महायोगी	२९०	कदाचिदथ भाव्यर्थ	१५४
एवमेष शरीरान्त	२४४	कदाचिदपि मेधावी	२८२
एवमेष स्थितज्ञानी	३०५	कदाचिदेव कीराणां	५३
एवमेतस्त्वया पृष्टं	२५०	कमलाकरवत्काक	१९०
एष एव भवेद्भेदः	२४३	कर्णप्रावरणाः फाल	५०
एष एव महाबन्धो	२४५	कर्त्तव्यजिज्ञासयैव	२५९
एष मेऽद्य गुरुः शान्त	१५२	कर्त्तव्यतैव दुःखानां	८
एषा सुपुनिरित्युक्ता	२१३	कर्त्तव्यमविचारेण	२५
एषा हि प्रथमा सृष्टि	१७९	कर्त्तव्यविषसंसर्ग	२०
ऐ		कर्मणा पाचकः कालो	३०३
ऐन्द्रजालिककर्मैव	३०७	कर्म नैवास्ति यत्किञ्चित्	३०७
ॐ नमः कारणानन्द	१	कर्म शेषं कथं शिष्ये	३०७
क		कर्म वोपासनं वाऽपि	२०६
कथं मुक्ते व्यवहृति	२५०	कलाविद्या रागकाल	१८१
कः प्राणप्रियमाहारं	२९३	कश्चिद्विद्वांस्तदा शापात्	२९९
कज्जलेन समालिप्ते	२०७	कस्मान्चित्तेनोपरमं	२९५
कटुकानि च तित्तानि	६६	कस्मिन्देसे च काले च	१४१
कटुतित्तानि चित्रात्म	६६	कहोलमुत वत्स त्वम्	१९२
कठिना भूः शिलाप्राया	१६१	कहोलात्मज जानीहि	२१६
कण्टकैश्चित्सर्वाङ्गा	२१	काञ्चित् सुरूपिणीं प्राप्तः	४४
कथं कुत्र कदा केन	१११	काठिन्यनिर्मलत्वाभ्यां	१४२
कथं गण्डशैलगर्भे	१५३	का देवता च सम्प्रोक्ता	२९६
कथं ज्ञातसुविज्ञेयो	३००	कापिशायनपायीव	१३१
कथं तेषां शुभं भूयात्	२५८	कामनाया विशेषेण	२५८
कथं परीक्षणीयास्ते	२८८	कामबाणहतस्तत्र	३४
कथं पश्यसि तत् सौख्यं	४३	कामवेगेन विवशो	४५
कथं मुने देहमिम	१५६	कामादि वासनाः सर्वा	२७४
कथं वा तदपि प्राप्यं	३०	कामादिवासितस्यैवं	२७८
कथं विद्यामवेद्यं तत्	२००	कामादिवासना बुद्धेः	२७७
कथं सर्वैः समासाद्यं	२२१	काम्यकर्मफलश्रुत्या	२५९
कथं स्वान्तर्विनिर्भग्नं	२३४	कारणं स्वात्मपूर्णत्वा	२१७
कथञ्चिदन्यरूपेण	२००	कारणत्वाद्धि वितता	२९४

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
कार्यं स्यादिति तर्केण	९४	कृपाणमाददे दक्ष	४५
कार्यस्याचिन्त्यरूपत्वात्	९५	केचिच्छास्त्राणि विविधा	१८७
कालः प्रबोधने वायं	१०६	केचित् सदा समाधिस्थाः	२६७
कालादिभिः परिच्छेदो	२३३	केचित् खातेषु कूपेषु	२१
कालो देशश्च लोकेऽस्मिन्	१४१	केचित्तपः प्रकुर्वन्ति	१८७
काष्ठलोष्ठमत्वेन	११४	केचित् प्राद्वर्जगदि	१३६
का सा ते जननी प्रोक्ता	१०६	केचित्समाराधयन्ति	१८७
किं तावदेव तत् सत्यम्	२४७	केविद्वनान्यर्जयन्ति	११३
किं त्वेवंविधसंविद्धिः	१८६	केचिद्राज्यं प्रशासन्ति	१८७
किं न पश्यसि शोकस्य	१६२	केऽपि लोकविगर्हा तु	१८८
किं बहूक्तेन ते राम	२२९	केऽपि लोके धन्यतमा	२५५
किं वक्तव्यमहो नृणां	४९	केयं तवेदुशी विद्या	१९०
किं स्यात् प्रियतमं लोके	३९	केवलं भावनादाढ्या	१४८
किञ्चिदुक्त्वा न कृत्वा च	२९०	केवलं भावनामात्रा	१६८
किञ्चिद्भावं हि सम्पश्यन्	२२९	केवलज्ञानिनो दृष्ट	२६३
किन्तु मुख्यसमाधित्वम्	२१२	केवलां चित्मात्मस्थां	५२
किन्तूत्तरक्षणोद्भूत	२१०	केवलाज्ञानजनितं	३०२
किमत्र मुग्धभावेन	४०	केवलाऽपेक्षिता नैवा	२०६
किमभूत्फलमेतेषां	७	के वा वयं स्वरूपं किम्	१०९
किमयं पूर्ववन्नेह	१३०	कोऽयं बन्धः कथं वा स्यात्	२४५
किमस्ति किं नास्ति लोके	२९७	को विचारो भवेत् किं वा	२९५
किमस्मिन्ननया दृष्टं	४८	कोऽविवेकस्त्वया प्रोक्तः	२९५
किमहं निद्रयाऽऽच्छन्नः	११६	को हि दुःसङ्गतः सौख्यं	७३
किमहं मां प्रवक्ष्यामि	४७	कीदृशस्त्यन्तमन्नाहं	३००
कुण्डिता सापि भवति	९८	कीमारे चान्यथा वृत्तं	७
कुतो नीचोच्चतां पश्येत्	३२	क्रमात् पूर्णसमावेशा	१३०
कुतो भोगेषु नात्यन्त	३६	क्रमेण दीक्षयामास	४
कुत्र वा गच्छति पुनः	६	क्रियाभासावभासेन	२२७
कुत्र श्रद्धा विघातव्या	८७	क्रियाभेदात् तत्त्रिविधम्	१८२
कुर्यात्तावत्ताडनं वा	२४५	क्रोधिनं कामिनं त्यक्त	२६१
कुर्वन्त्येतत् स्वार्थमेते	११३	क्रोधो लोभश्च तावुक्तौ	१०७
कृपमण्डूकसदृशा	२७	क्वचित्चपलयात्यन्तं	७२
कृत्यमात्मदेवताया	१८८	क्वचिज्ज्वालामुखाक्षिप्तो	७३
कृपया बोधनीयोऽहम्	१३५	क्वचित् फलविसंवादात्	९२

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
क्वचित् कारणेऽदृष्टे	१३६	घ	
क्वचित् क्वचित् केवलं तु	२३९	घटादिकं चक्षुराद्यं	११५
क्वचिदत्यन्ततप्तेषु	७३	घटादिकं मृदि यथा	३१२
क्वचिद्भूमौ कटेभृत्यं	४६	च	
क्वोन्मीलयेज्जगच्चित्रं	१३९	चक्रुरायतनं श्रेष्ठं	६३
क्षणिकत्वाद्दर्शनं तु	२१२	चक्षुर्नैतद्गोलकं ते	२०३
क्षणेन गत्वा पश्यति	१८४	चञ्चलं हृद्ययोगेन	११५
क्षारं जलं स्वादुरसं	१६१	चन्द्रमण्डलशीतेन	१५७
क्षुधाभरसमाक्रान्ताः	२०	चिच्छक्तिरेषा परमा	१९७
क्षुब्धेन्द्रियो नरस्तस्याः	४९	चितिरूपं स्वमात्मानं	५३
क्षौद्रमाधुर्यवद्देहे	५०	चितिरेव महासत्ता	१०३
ख		चितिर्जाड्यावृता घीः स्यात्	२९५
खण्डज्ञानसमूहात्मा	२१६	चितिर्या परमा देवी	२४१
ग		चितिर्विचित्राऽन्यभावे	१४३
गगनं दर्पणे द्रष्टुं	२०५	चितिशक्तिमधिष्ठाय	१८१
गगनं सर्वतो व्याप्तं	२०५	चितिश्चेत्यं चितिरहं	५३
गणेशस्कन्ददिक्पालाः	२७१	चितिश्चेत्यविनिर्मुक्ता	१३५
गण्डशैलं प्रति ततः	१५५	चितिश्चेत्यमिति द्वे	२३५
गतायतं रोचयन्ते	२२१	चितिश्चेत्यमिति द्वेधा	२३७
गत्वा तत्र भ्रातृयुतः	२९२	चितेरन्तर्भासमानं	२३४
गत्वा दूरं न तत् प्राप्यं	१२१	चितेर्बहिश्चेत्यसिद्धिः	२३४
गत्वैकान्ते विविच्यैतत्	१११	चितोऽभावे न किञ्चित्स्यात्	२४९
गन्धमादनशैलेन्द्रं	११	चितो या भावना शक्तिः	१८३
गम्भीरस्तिमिताम्भोधि	२७०	चितं यदा स्वमात्मानं	२७३
गाढभावनया प्राप्य	१५४	चित्तपाकविभेदेन	२६०
गिरयो निम्नतः यान्ति	१६१	चित्रे विमृष्टे यद्गत्तु	२२३
गुरुर्वापि कथं ब्रूयात्	२३७	चिदात्मभित्तावखिलं	१४०
गुरूपदिष्टं यत् किञ्चित्	२४१	चिदात्मरूपे व्यक्ते वै	१८४
ग्रहृधान्यराज्यघन	११४	चिदात्मा केवलः स्वच्छः	२३८
ग्रह्णात्याश्रयजननं	६३	चिद्रूपात्मैकतां याता	२८९
गोपयन्ती स्ववैदुष्यं	५९	चिरकालेन विज्ञानं	२६२
ग्रन्थयः कोटिशः सन्ति	१२७	चिरपर्युषितप्राया	२२७
ग्रन्थिरूपसमापन्नं	१२८	चिरस्थितविषयज	५६
ग्रीष्मभीष्मकरातप्ते	२६	चिरादेव वरः प्राप्नो	२९२

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
चिराय लब्धो ह्याहारो	२९२	ज्ञाता मयाऽसि मुदुङ्	१०५
चिरायैष मया प्राप्त	२९३	ज्ञातुः स्वच्छात्मरूपं तत्	२७५
चेत्यं चिदात्मकमिति	२३५	ज्ञात्वा योगदृशा सर्वं	३५
चेत्याभासनमेवास्याः	२३३	ज्ञात्वा कथञ्चिदात्मानं	२८५
ज		ज्ञात्वा सर्वात्मना तस्या	९७
जगतः प्रतिबिम्बस्या	१४५	ज्ञानं क्वचिन्नैव साध्यं	२५३
जगत्कारणरूपं वै	९९	ज्ञानं तदेव हि भवेत्	३०१
जगत्सर्वात्मना नैव	१७८	ज्ञानं भिन्नं लक्ष्यते हि	२६०
जगदादेर्हि देवस्य	१४०	ज्ञानकर्मैन्द्रियाणां तु	१८२
जगदाभासयेन्नूनं	३०८	ज्ञानजेषां विभेदेन	२२८
जगन्नाविति चाकाशं	१२२	ज्ञानप्रसङ्गः समभूत्	६७
जगन्नास्त्येवेति दृष्टि	३१२	ज्ञानस्य साधनं मुख्यं	२८५
जगौ यथावत् तत् सर्वं	४६	ज्ञानिनां देहसंयोगे	२८४
जटिला नित्यतरुणी	१९२	ज्ञानिनां फलसन्धानं	३०४
जनके ह्यभिसम्प्रीताः	१९०	ज्ञानिनोऽपि च दृश्यन्ते	१८७
जनकेनैवमादिष्ट	२२८	ज्ञानेन्द्रियाणि ते पञ्च	१०७
जनकोक्तमिति श्रुत्वा	२१६	ज्वालामुखस्तथोर्ज्यैष्ठो	६७
जनयेत्तत्कालफलं	३०४	ज्वालामुखनिन्द्यवृत्ता	७२
जना नेत्रस्वभावेन	१७४	ज्ञानन्त्वेकविधं स्वात्म	२५२
जलं मनुष्यपञ्चादेः	१७३	त	
जहौ मय्यनुरागन्तु	६१	तं प्रसाद्य मुतानन्दं	१५०
जागतो भ्रम एष स्यात्	२५०	तं भावं भावय सदा	१२१
जागरादौ व्यवहर	२९२	तं विना ते हि विश्लिष्टा	७२
जाग्रच्चित्रदर्पणं चा	१७०	तं विष्णुमाहुः केचिद्वै	९९
जाड्याल्पानल्पभावेन	२७९	त एकदा गुरुमनु	८५
जाते यादृशविज्ञाने	२७४	तच्च पूर्णात्मविज्ञान	२१८
जिजेय वारुणिविप्रान्	१९१	तच्चापि सफलं ज्ञेयं	२७३
जीर्णं तु तत्पुरे चान्यत्	७२	तच्चाप्यवेद्यमन्यस्य	१९३
जीवन्मुक्तः समभवत्	५२	तच्चाऽनुवृत्तस्व	१६७
जीवन्मुक्तदशासंस्थं	१३०	तच्चाऽन्यविषयाभासे	२०२
जीवन्मुक्तो हि दुर्लक्ष्यो	२९७	तच्चान्येषां बहिर्भाव	२८५
जीवानामविभेदेन	१८२	ततः प्राहाऽमृतस्यन्दि	११८
ज्ञस्य प्रमैव तज्ज्ञान	३०२	ततः साश्वान् भ्रातृपुत्रान्	१५३
ज्ञातज्ञेयास्त्यक्तदेहा	१३१	ततः स्वस्थितिमाचख्यौ	१३१

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
तत् एतत्समाभातं	१४४	तत्प्रश्नोत्तरमप्राप्य	१९४
तत्स्त्वमप्यहमिदं	१८४	तत्प्रष्टुं त्वाभिवाञ्छामि	१३
तत्स्त्वामपि निजित्य	२९२	तत्प्रसादाग्निसूदार्थम्	२६८
ततो न बाधितं सत्यम्	२४९	तत्प्रारब्धं मनोभूमौ	२६४
ततोऽप्यविदितं किञ्चित्	१७१	तत्फलं स समाप्नोति	३१
ततो भूयो नृपमुतो	२९९	तत्र का साधनापेक्षा	२५३
ततो मदुपदेशेन	१५५	तत्र चैकेन मनसा	२६३
ततो मया स आक्षिप्त	२९८	तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं	१२२
ततो विकल्पविषयी	२२२	तत्र तत्र स्थिता भूत्वा	६३
ततो विचारयेत्	२२२	तत्र तेन दोषयुजा	८६
ततो वैराग्यसंयोगात्	२७८	तत्रत्यजीवराशीनाम्	२४३
तत् कथं ते प्रवृत्तिः स्यात्	८३	तत्र दृष्टसाधनानां	९२
तत्कथं ज्ञानिनां भेदः	१८७	तत्र निर्मायि वसति	४
तत्कथं बुद्धिभेदेन	२५२	तत्र पक्वं तु यत् कर्म	३०३
तत्कथं साधनफला	१८८	तत्र मद्भक्तियुक्तस्तु	२७९
तत्कथं मन एवात्मा	२३६	तत्र मूलं समुल्लेखं	४९
तत्काल आगतां काञ्चित्	१९२	तत्र मूलं काम्यदोष	२७८
तत्काल एव बहूनि	१८९	तत्र यामोर्ज्यं सम्प्रष्टुम्	२६८
तत्काल ईषत् सम्प्राप्य	२६२	तत्र राजकुमारास्तु	१४८
तत्केन हेतुना चेति	१३१	तत्र स्वमाङ्गदो जन	२९१
तत् केवलाभिमानोत्थं	४४	तत्र विप्रतिपन्नस्य	१२३
तत्तद्रूपविभेदेन	२०१	तत्र सर्पस्य बाधोऽपि	२४६
तत्ते नेत्रोन्मीलनेन	१२९	तत्र सर्वं भासते वै	१२३
तत्तेऽभिवाञ्छितं ब्रूहि	१५१	तत्राजगाम शुद्धाख्यो	८५
तत्ते शृणु समाख्यास्ये	२	तत्राजगमुर्बाह्याद्या	१८९
तत्ते सम्यक् प्रवक्ष्यामि	२०८	तत्रात्मदेवतासेवा	२७८
तत्त्वं विज्ञायात्मतत्त्वं	१६५	तत्राद्यं सर्वमूलं स्यात्	२५६
तत्त्वं शोचसि कं ब्रूहि	१६२	तत्राद्यः स्यादनाश्वासो	२७७
तत्त्वां मन्ये महात्मानं	२९९	तत्राऽऽद्यया श्रीत्रिपुरा	१८३
तत्त्वां प्रष्टुं समायातो	१०६	तत्रानेकान् मृगान् व्याघ्रान्	२९१
तत्परेणापि चित्तन्तु	११८	तत्रापश्यच्छ्रुमां काञ्चित्	३२
तत् पितुस्तेऽद्य बाञ्छामि	१५५	तत्रापश्यत् सत्यलोके	१५८
तत्प्रकल्पितसर्पा	१६५	तत्रापश्यत् स्वप्नजालं	११६
तत्प्रकारं प्रवक्ष्यामि	८४	तत्रापि मूलं माहात्म्य	२७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
तत्राऽसत्यमन्यतरत्	१७१	तथैवास्य स्वभावोऽपि	१४६
तत्राऽऽसीन्नुपतिर्धामान्	१४८	तदद्यापि च तेनैव	५३
तत्रैकमन्तःकरणं	२२६	तदन्तर्भासमानत्वात्	१२३
तत्रैकस्तु महेशानः	१३८	तदलं मे वृथा ब्रह्मा	२२५
तत्रैकांशेऽप्यहम्भावो	३०८	तदल्पफलमेवेति	१६
तत्रैवं सति नैवान्तं	८७	तदसत्यं कथं ब्रूहि	२३६
तत्समावेशसंसिद्ध्या	१२३	तदा कटकृदाख्यानं	५
तत् साक्षात् पुरुषार्थस्य	२१८	तदा ज्ञात्रादि सम्पत्ति	२७५
तत्साधनं सम्प्रसाध्य	९७	तदा तद्भासते स्पष्टं	२०४
तत् सुतर्कानुभूतिभ्यां	९२	तदा तस्याः प्रीतये स	६७
तत् सुपुत्री विभासेत	२०७	तदा तद्रक्षति पुरम्	७१
तत्स्वातन्त्र्यात् प्रभूतश्च	३१०	तदा न वेद बाह्यं वा	२१४
तथा च देशकालादि	१०१	" "	"
तथा च दर्पणाभोगे	१४०	तदा न वेद बाह्यं वा	२१५
तथा च वेद्यनिर्मुक्तं	२२९	" "	"
तथा च बुद्धिभेदेन	२५९	तदा पलायनपरा	२१
तथा च यो यो यस्यान्तु	४९	तदाश्रयाणां भावानां	२३४
तथा चित्तिर्जगत्सत्ता	१४२	तदा सखी मे स्वभाव	६८
तथा चित्ति जगद्भ्राति	१७७	तदा सा जडशक्तिस्तु	१८१
तथा चैकस्य मनसो	२२६	तदास्ति तावन्न किमु	४३
तथा तव बचो मन्ये	८०	तदा हि परमो मोक्षः	२७५
तथा घत्तेऽनेकरूपं	१०२	तदुक्तमविदित्वा तु	१६
तथा परीक्षन् स्वात्मानं	२८८	तदेवं ते कुतश्चित्तं	३७
तथापि कुत एतद्धि	१४७	तदेव संसारमूलम्	२२०
तथापि चतुरैर्विद्या	२८६	तदेव मन इत्युक्तम्	२४३
तथापि लोके मेऽप्यन्तं	६२	तदेव जाड्यमुख्यत्वे	१८०
तथा मनःसुषुप्तिस्थं	२०८	तदेव भवति ज्ञानं	२७३
तथा मूढा न बिन्दन्ति	२१९	तदेव स्वात्मविश्रान्तिः	२४२
तथा विचित्रे जगति	१७८	तदेव ह्यात्मनो रूप	२३५
तथाऽसत्यगृहीतस्य	२६६	तदेवाखिलसंसार	१२८
तथा सौख्याय यतते	१०	तदेवाद्वैतविज्ञानं	२७३
तथा स्फुरन्त्यपि सदा	२७२	तदेवाद्वैतविज्ञानं	२७४
तथास्य न जगद्देहो	१३९	तद्धि सर्वजगद्देतु	१९३
तथा स्वसङ्कल्पभवे	१७२	तद्घटस्य परे पारे	२९१

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
तद्वह्निर्ध्वान्तमन्दोह	१५८	तस्मादज्ञानिनां तार्थ	२१८
तद्भूतचरणद्वन्द्वं	१५९	तस्मादन्यपरावृत्ति	२०६
तद्भूयो निहतं धाव	१४	तस्मादवाधितो ह्यर्थ	१६८
तद्भोगः स्वप्नभोगः स्यात्	१०७	तस्मादयं पुराऽस्माकं	१६१
तद्भयोऽपि सुखमस्थो	१६०	तस्मादर्थक्रियाभास	२४९
तद्विचित्र्य प्रकथय	१०६	तस्मादगत्यमेव स्यात्	२३२
तद्रीक्ष्य तज्ज्ञणगुतः	१४९	तस्मादाराधयेदादौ	९४
तत्र पूर्णपदं यस्मात्	१२९	तस्मादापातरूपाया	२५६
तन्माभाचक्ष्व वृत्तान्तं	१०५	तस्मादिदं दृश्यञ्चालं	१६८
तन्मूलको जगद्भासो	३०४	तस्मादेता दशाः सर्वाः	२२०
तन्मे न विदितं किञ्चित्	१५	तस्मादाकर्मविनयं	३०३
तपसा मन्त्रसिद्धया च	१७२	तस्माद् दृश्यस्य बाधे तु	२४६
तपस्विनामयं धर्मः	३३	तस्माद् ब्रह्मन् ते प्रश्नः	३०१
तमेव सर्वभावेन	९६	तस्माद् दृश्यं तव वपुः	२३१
तया व्याप्तं तु चिच्छक्त्या	१७७	तस्माद्राम मनोनाम्य	२४४
तरुणः सोऽभवत् तूर्णम्	६१	तस्माद्राम निर्विकल्पे	२४६
तर्हि नो विमृशाम्येतां	११५	तस्माद्भस्वस्तितता लोके	१४२
तस्माच्छृद्धामृते लोको	८३	तस्मान्न किञ्चित् कर्मापि	३०७
तस्मात् कुतर्कं सत्यं	९८	तस्मान्नास्त्येव विज्ञानं	३०३
तस्मात् केवलं चिन्मात्रं	२८०	तस्मान्निजात्मरूपां तां	२६
तस्मात् सिद्धिन्तरा स्यात्	२८०	तस्मान्महामायिनं तम्	९३
तस्माच्छृद्धेन मनसा	२०७	तस्मान्निरोधने किं स्यात्	२२७
तस्माच्छ्रुं योनिदानं तु	१३४	तस्मिं किं न दिशेद् ब्रूहि	९५
तस्माज्जागतकार्यस्य	१३७	तस्य ज्ञानं मुमुक्षुभं	२८४
तस्मात् सौन्दर्यमेतद्	५०	तस्य पुत्रो महात्मानो	२९१
तस्मात् सुभक्तियोगेना	२८६	तस्य प्रत्यावृत्तिरपि	२०४
तस्मात् सङ्कल्पमात्रस्य	२३१	तस्य बाह्यस्य वक्तव्यं	१७५
तस्मात् प्राक्पुण्यपाकेन	२५९	तस्य माहात्म्यतो मेऽत्र	३४
तस्मात्तस्यापि वेद्येन	२६६	तस्याऽपि बहिराभासात्	१७५
तस्मात्तदेकपरता	२०४	तस्याभितप्यतो मेऽद्य	१५४
तस्मात् अष्टयो मुख्यं	२७९	तस्यावभासरूपा याः	२८५
तस्मात्सर्वज्ञगदितो	१४०	तस्याहं धर्मतः पुत्री	३३
तस्मात् सुपुमिमात्रेण	२१३	तां दृष्ट्वा राजपुत्रोऽपि	३२
तस्मादचित्यशक्तिः स	१३८	तात्पर्यं सर्वथैतत्	२७६

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
तानि भोज्यानि तान्येव	२२५	त्रिपुरानन्तशक्त्यैक्य	१४१
तान्मे यदि प्रतिब्रूयाः	२९३	त्वत्कृपात्पामृतकर	१२
तामुपासितुमिच्छामि	४	त्वत्तः श्रुतं चापि भूयो	१४७
तामेकभावानुगतौ	१०४	त्वदुक्त्या यत् पुरा मेऽभूत्	५८
तारतम्यात् साधनानां	२५२	त्वदभ्रातुर्वैशजः सद्यो	१६०
तावज्ज्ञाता ज्ञानमपि	२७५	स्वमप्यन्तःक्रोशमितं	१८४
तावता न हि सर्वेषां	२६५	त्वया किञ्चित्सुविवितं	१२७
तावद्भवेच्चाक्षुषोऽंशः	१७४	त्वया तु भावनासिद्ध्या	१७१
तावन्तो जन्मतरवो	२७	द	
तावन्न तत्पदं प्राप्तं	१२९	दग्धं भवेत्तव मुखम्	२९३
तावन्न फलमाप्नोति	२४१	दत्तात्रेय प्रोक्तवचः	३०
तावन्नाप्नोति कण्ठस्थं	१९६	ददृशुस्तत्र राजर्षिः	१४९
तावुभौ निर्गतौ सर्व	२९१	दध्युविद्या महेशानीं	२६९
तीव्रवैराग्यमुखतः	२५७	दयमानस्वभावोऽय	१७
तुष्टाव विविधैः स्तोत्रै	१५०	दर्पणप्रतिबिम्बस्य	३०२
तुष्टो राजकुमारोऽपि	३५	दर्पणप्रतिबिम्बानां	३०२
तृणान्यन्यान्योषधीश्च	६८	दर्पणप्रतिबिम्बानां	१४३
तृतीया विनिवर्तेत	२५६	दर्पणे प्रतिबिम्बो हि	१४४
तेजस्विनं तपोमूर्तिं	२९७	दर्पणे च जले चापि	१४२
तेन दर्पाद्भगवता	१४	दर्शनं जाग्रति भवेत्	२१२
तेन व्यासा देशकाला	१७६	दशासु कामु ते सन्ति	२१४
तेन श्रुतेनाधुना त्वं	२७	दिदृक्षुश्चक्षुषा किञ्चित्	२०४
तेनापि वेद्यमखिलम्	२६५	दिनैर्मासैर्वत्सरैर्वा	२७६
तेनैव साधितं भूय	२६०	दीपप्रभा घटच्छिद्रा	२४४
ते पुत्राः पितृवात्सल्य	६६	दीपसूर्यालोकवर्हि	१७५
तेभ्योऽयन्तं विभिनं चा	१३७	दुःखभारसमाक्रान्तः	६८
तेषां मनो बहुविधं	२६४	दुःखेन श्लिश्यमानाश्च	२८
तेषामापातसंसिद्ध	२८८	दुःखैरभिहतो नूनं	१२६
तेषामेव तु केषाञ्चित्	२६३	दुर्लभ्यः स्यात् को हि लोके	२९७
त्यक्त्वा पश्यामीति भावं	१२४	दुष्पत्नी पुत्रसहितो	७३
त्यज ग्रन्थि सन्निरुध्य	१२९	दूरे किञ्चित् पश्यतस्तु	२१५
त्रिधा समभवद्दुष्ट	३०९	दूषयित्वा तर्कजालं	२९८
त्रिपुरा येन तेष्वेव	५९	दूग्दृश्ययोः परीक्षातो	२९६
त्रिपुरा परमेशानी	१०४	दृग्नास्ति नास्ति वै दृश्यं	२९७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
रूपापराधयुक्तानाम्	२६२	धावन् स्वगृहं च्छायेव	१२२
दृश्यन्ते योषितोऽत्यन्त	४९	धिरये स्त्रीष्वभिरामप्रीता	४६
दृश्यन्ते मणिमन्त्रादि	१४०	धीः केयं समाख्याता	२९४
दृश्यासम्प्लने शुद्ध	३१०	धीः स्थानमुपलब्धौ तु	२९४
दृष्ट एवास्य गर्भे ते	१६९	धैर्यमालम्ब्य निःशोको	१७१
दृष्टमेतत् सर्वतो वै	९६	ध्यानस्य परिपाको हि	२२३
देवतानुग्रहात् सर्व	२९६	ध्यायाम्येतच्चिरान्नित्यं	३९
देवता स्वाज्जगद्धात्री	२९६	न	
देवराताभिधस्तेन	२९२	न किञ्चिदपि जानाति	३१०
देवादितिर्यगन्तानां	१११	न किञ्चिद्भ्रासयेद्वस्तु	२०५
देवि भूयो नमस्तुभ्यं	२७०	न कुतः साधनं प्राप्ता	३०
देशः कालोऽथवा किञ्चित्	१८३	न केनचित्तदखिलं	४१
देशकालानभिज्ञानात्	२१	न जागरस्य बाधस्तु	१६८
देशभेदेषु दृश्यन्ते	५०	न जानाति यथा	२१९
देशान्तरावलोक्याय	१५७	न तत् सुखं भवेन्नाथ	४१
देहवृक्षनदीदीपा	१६७	न तत्र नगरे कश्चित्	५२
देहात्मत्वग्रहो देह	२८९	न तत्स्वयं विजानासि	१९४
देहाहं भावरूपस्त्वं	३१०	न तन्मया सुविदितं	१०६
देहं देहाभासमयं	२१५	न तवाभिमतं त्यक्त्वा	३७
देहेन्द्रियान्तःकरणा	२२६	न तां विहाय मे संस्था	६०
द्रष्टृदर्शनदृश्यात्म	२३७	न ताभिरीपद्वा बुद्धेः	२६२
द्वितीयलेशं प्रसहेत्	१७८	न ते सुविदितं राम	१८९
द्वितीयमुत्तनीतोऽथा	६४	न ते ह्यविदितं किञ्चित्	९९
द्वितीया जन्मनैकेन	२५५	न त्वं देहः किं तु देही	१६३
द्विधा त्रिधा वा मन्द	३१३	न त्वं शरीरं प्राणो वा	२०२
द्विविधः स्यादनाश्रयाः	२७७	नत्वा शिवादीन् लोकेशान्	२८३
द्वीपस्तत्र जना भावा	१७४	न दृश्यं नापि तद्वाच्यं	१०९
द्वैतं जगत् प्रसहेते	१७८	न फलं साधयेद् ब्रह्मान्	२२०
द्वतज्ञानन्तु विविधं	२७३	न बन्धनाय भवति	२८९
ध		न बाधितः परदिने	१६६
धन्या प्रियेऽसि निपुणा	१०९	न भवेत्तत्र चैकोऽपि	६९
धन्यासि त्वमहञ्चापि	८७	न भेदो लेशतोऽप्यस्ति	३०६
धन्योऽसि भार्गव त्वन्तु	२२	न मां जहौ कदाचिच्च	६१
धार्मण यः पालयिता	३४	न मुख्यफलसंयुक्तं	२५६

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
न मोक्षो नभसः पृष्ठे	२३१	नित्यमुक्ता पुनर्मुक्ता	२७२
न वा भूयोऽपि मननं	२६१	निदर्शनं ह्यात्मकृति	७
नव्येऽनुवृत्त्यभानेऽपि	१६६	निदर्शनं तेऽभिध्यास्ये	१५
नष्टाखिलार्थ इव स	५७	निदर्शनं त्वत्र चेदं	१६९
न संस्मरति संवृत्तं	१३२	निद्राजाग्रन्मध्यभागे	१२३
न स्त्रियः कस्यचिद्वा स्युः	४७	निद्रा प्रकाशरूपाऽसौ	२०९
न स्वप्ने जागरा भावाः	२४७	निनाय पितरं स्थाने	६६
न स्वरूपे स्वतो भान्ति	२४१	निन्द्यवृत्तं क्वचित् प्राप्य	७३
न स्वस्थितेः प्रच्यवन्ते	२५१	निमज्जितास्तु ये विप्रा	१९१
न हि पीतमपीतं न	१३७	निमित्ततो ययौ शीघ्रं	४५
न विजानन्ति स्वात्मानं	२१९	निमील्य कृत्वा गत्वा वा	१२७
न हि निष्कारणं किञ्चित्	२५८	नियतिः स्यादीशशक्तिः	९८
न ह्यण्वपि विशेषेण	५९	निरन्तरं तद्गतात्म	६१
न ह्यात्माकाशयोर्भेदो	२३९	निरुपादान एवादौ	१४०
न ह्यादेशस्वरूपेऽस्ति	११०	निरूपणं भाषणञ्च	२८७
नाकाशतुल्यं चैत न्यात्	२३९	निरूपणं बहुविधम्	२४२
नातोऽधिकं किञ्चिदस्ति	२२३	निरूप्य कौशिके तेन	८६
नात्यगाद्ग्नभागोऽपि	१०५	निरोधे सर्वमनसाम्	२२६
नात्र रूपं रसो वापि	१२३	निर्गतायां तु तापस्याम्	१९९
नात्र हेतुं कञ्चिदपि	११७	निर्गल्य तद्गणमुतो	१४९
नाथ किं ते व्यवसितं	१२५	निर्जने भीतिजनने	३२
नाथ प्रोक्तं मया यत्ते	८०	निर्जितान् भक्षयन्नास्ते	२९२
नाथ शृणु प्रवक्ष्यामि	१०९	निर्दयाश्च कृतघ्नाश्च	९६
नाऽनुवृत्तिर्भाति स्वप्ने	१६६	निर्भयः को भवेत्ल्लोके	२९६
नाय्यद्गुजावहं किञ्चित्	१२	निर्भयः सङ्गरहितो	२९७
नारदं भक्तिसम्मग्नं	२६१	निर्भयो व्यवहारेषु	२८२
नाविदं लेशतोऽप्येनां	४७	निर्याणं तु चित्तेर्नास्ति	२४४
नाऽसाध्यं विद्यते लोके	१५१	निर्वाणं परमं प्राप्तौ	१८५
नास्ति सामान्यपदवी	२१०	निर्विकल्पं ज्ञानमिति	२१७
नास्ति चेत्यं चित्तेरन्यत्	१३३	निर्विकल्पं पूर्णरूपं	२४४
नास्त्येव मोक्ष इत्याद्यो	२७७	निर्विकल्पसमाधि	२११
नाहं तदशकं स्पष्टं	१५	निर्विकल्पदशाम्भोधि	१५०
नाहमद्यावधि ह्येव	४७	निर्विकल्पकविज्ञानात्	२१७
नित्यनैमित्तिकपरः	५	निर्विकल्पकविज्ञानं	२१७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
निर्विकल्पाख्यविज्ञानं	२२८	पप्रच्छ सन्दिग्धमनाः	२५७
निर्विण्णो लोकायात्रायाम्	१५४	पप्रच्छ ऋषिमुख्यानां	२६८
निर्वृत्तकोपासनस्य	९७	परतत्त्वपरैर्वाक्यैः	१३२
निर्वृत्तकत्वज्ञानाय	९७	परन्तु तन्न विदितं	५
निवृत्तिस्तस्य तु ज्ञानात्	२१७	परमामापदं प्राप्नोति	२३
निवेश्य वक्त्रकमलं	४६	परमार्थफलप्राप्तौ	३१
निशीथे दैववशतः	२१	पररूपे ह्यदेहेऽस्मिन्	१०२
निश्चिता मूढता सर्वे	२०९	परश्रेयोमहासीध	२२
नूनं तदप्सरोद्भूता	७९	परस्पराभावभासा	२४८
नूनं प्रिये सर्वथैव	८३	परा चित्तिर्मे जननी	१०७
नूनमेते जनाः सर्वे	११३	पराद्वये समाश्वस्ताः	२२२
नूनमेषोऽतिविमुखो	१०८	परावरजं संशान्तं	२९८
नृणां कर्त्तव्यकाला हि	१७	परा सा प्रतिभा देव्याः	२७१
नृपैष लोकस्तेऽसाध्यः	१५५	परा सा या चितिर्देवी	२५८
नेतव्यस्तं सर्वथैव	१५६	परिच्छेदावभासो यः	२४२
नेत्रं सुसाध्यौषधेन	१७४	परिच्छेदोऽभिमानस्य	२४०
नेत्रे निमीलयद् यावद्	१२५	परिच्छिन्नाऽनुवृत्तिर्हि	१६७
नेतत्कर्णेन सुज्ञेयम्	१९५	परित्यक्तो विनश्यामि	१५७
नेतद्विज्ञानसदृश	२	परित्यज भयं भूय	१५७
नेतस्य मे पितुः कालो	१५१	परित्यज्याऽखिलध्वान्ति	१८४
नेतावदेव चैतस्माद्	१६	परिभूतं स्वमात्मानं	१९४
नैषां ज्ञानस्य मालिन्यं	२६०	परिहृत्य तु तां सम्यक्	१९८
नोक्ता चिकित्सानुत्पत्तौ	५८	परीक्ष्यैकांशतः सर्वा	८१
नो चेन्न स्याज्जीवितं ते	४५	परोक्षवृत्तिमानीता	६१
नोपभोक्तुं तथा शक्तौ	५७	पर्वताम्बुधिभूमुख्या	१६७
नोन्मार्जितं तावदिह	२४६	पश्यन् बालोऽपि नाऽऽदर्श	१२२
न्यवसच्छान्तमुमतिः	८५	पश्य प्रत्यावृत्तचक्षु	२०३
न्यवसत् स सुखप्रेम्सुः	६८	पश्य ब्रह्मन् स्थावराणां	२२१
प		पश्य सर्वत्र चात्मानम्	१३०
पक्ववध्याने निर्विकल्पे	२२३	पश्यात्मानमविज्ञाय	१४७
पठतां प्रत्यहं प्रीता	२८३	पश्याज्ज्ञं बोधयाम्येनं	१५२
पठिता श्रुतिरत्यन्ता	२८१	पश्येपदन्तः संरुध्य	१२४
पत्न्या चपलया साकं	६७	पश्येन्द्रजालिकं राम	१३४
पप्रच्छ यत्तु तापस्या	१९९	पश्यैवमेव भगवान्	१४६

श्लो०
 पांशुभिननेभ आक्रान्त
 पादप्रक्षालनाद्यैस्तं
 पिङ्गकेशाः श्वेतकेशा
 पुंसां वपुस्तथा स्त्रीणां
 पुत्रं न्यस्य मदुत्सङ्गे
 पुत्रादींश्च पृथक् स्मृत्वा
 पुत्रैः पञ्चभिरानीतं
 पुनः पप्रच्छ चात्यन्त
 पुनः पप्रच्छाऽत्रिसुतं
 पुनः प्राह महासेनं
 पुनर्बुभुक्षयाक्रान्ता
 पुनश्चित्तप्रचलनात्
 पुरं प्राप दशद्वारं
 पुराणि तानि वा कुत्र
 पुरा दशार्णाधिपति
 पुरादृष्टादपूर्वाज्यं
 पुरा मया हि बहुशः
 पुरा मे जननी काञ्चित्
 पुरा यत्प्राह संवर्तो
 पुरा हि पर्वतेशोऽभूत्
 पुरुषार्थसाधनत्वं
 पुरुषार्थोऽपि मोक्षः स्यात्
 पूजिता ह्येव सर्वैस्तैः
 पूज्याः सर्वा मम तनू
 पूर्णः सूक्ष्मो निर्मलश्चा
 पूर्णत्वादीश्वरस्येह
 पूर्णविज्ञानमेतत् स्यात्
 पूर्णस्य विस्मृतिर्नास्ति
 पूर्णाहम्भावविच्छेदात्
 पूर्णैश्वर्यं विहन्येत
 पूर्वेविद्याऽप्यखलिता
 पृच्छ भागव यत्तेऽद्य
 पृच्छ भूयः संशयं ते
 पृथक् तो प्राप्नुतः सौख्यं

पृ०
 २०
 १०५
 ५०
 ५१
 १५४
 १६१
 ६७
 ८७
 २८४
 १६९
 ६७
 ११६
 ६८
 ७९
 ३१
 १५९
 १६
 ५९
 ५५
 २९१
 २१६
 १८७
 ३१
 २५१
 १००
 ३१२
 ३०६
 १७९
 १०१
 २८१
 १३
 १९८
 १०
 श्लो०
 पृथङ्नेत्राद्यहम्भावै
 पृष्टैवं सा हेमलेखा
 पृष्टैवं तेन सा चेटी
 पृष्टैव प्राह सा कन्या
 पेयानि लेह्यचोष्याणि
 पेशलेषूपभोगेषु
 पौरुषात् कर्षका धान्यं
 प्रकाशते स्वयं चैवा
 प्रकाशनिविडा यस्मात्
 प्रकाशस्तु सुमुख्यः स्यात्
 प्रकाशस्तेजसो यद्वत्
 प्रकाशो निविकल्पः स्यात्
 प्रणनाम पादपीठं
 प्रणम्य नाम संथाव्यो
 प्रणम्य वसुमन्तं तं
 प्रतिबिम्बस्वरूपज्ञाः
 प्रतिबिम्बेष्वनन्तेषु
 प्रतिबिम्बो निरादर्शो
 प्रत्यहं चेदिकां गच्छ
 प्रबुद्धश्चिन्तयामास
 प्रबुद्ध उन्मील्य नेत्रे
 प्रबोधितोऽपि स पुनः
 प्रमाणात्लक्षणज्ञान
 प्रमातृणामपूर्णत्वात्
 प्रयच्छाऽश्वं राजपुत्रात्
 प्रयतेत साधनाय
 प्रविवेश गण्डशैलं
 प्रविश्य तं देशमपि
 प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च
 प्रवेष्टुमाश्रमोऽहं स्यात्
 प्रशासनपरो भूमेः
 प्रश्नांस्त्वयापि हि कृतात्
 प्रश्रयावनतो भूत्वा
 प्रसन्नचित्त आमन्त्र्य

पृ०
 ३०९
 १००
 ४५
 ३३
 ६५
 ३७
 ९१
 १९६
 २०९
 १४२
 २४२
 २०९
 ११
 ३५
 २९९
 १४३
 १९३
 १२९
 ४४
 ११६
 १२५
 १९६
 ८४
 १३८
 १५३
 ९१
 १४९
 १५७
 ३९
 ३४
 १५८
 २९९
 १४
 १५२

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
पयस्य मां समक्रान्तु	६२	प्रोक्तमुख्यापरमयं	२७३
पगिद्धविद्यानगरम्	१३३	प्रोक्तानां वासनानां वै	२५६
पगिद्धविद्यानगरं	१३३	क	
प्राप्तमनुलं लेभे	११५	फलं तदेव सम्प्रोक्तं	८
प्राग्वासनाहृतजानाः	३०५	फलं तु त्रिविधं यस्मात्	१८१
प्राणप्रचारः सम्प्रोक्तो	१०८	फलश्रुत्युत्तरोद्भूता	२५६
प्राणेष्वानं सुसंयोज्य	१५२	फलार्थैः स्वप्नमर्त्यादीन्	१६६
प्राप्ते फले फलेच्छावान्	८	फलानि भोजयामास	३३
प्राप्ते विचारे परमे	२७	ब	
प्राप्ती स्वनगरं राज	३०७	बद्धधा खड्गैरवृक्षेऽथ	३३
प्राप्नोति तद्विदित्वैव	१९३	बन्धो यदि तदादर्श	२४५
प्राप्य श्रीगुरुववाब्जान्	४	बभूव विस्मितोऽत्यन्तं	१५९
प्राप्य स्वमातरं नाथ	७४	बहिः समे सुपिष्टेन	८३
प्रायः सत्सङ्गमूलैव	२५९	बहिरर्थेषु विश्रान्तिः	२०८
प्रायो भूलोकसंस्थाना	१९१	बहोरूपं महाशन्यं	१८०
प्रारब्धं नियतिर्विधि	९८	बहुना किमिहोक्तेन	२१५
प्रारब्धबीजाङ्कुरः स्यात्	२६४	बहूनामस्थिरो नूनं	७२
प्रारब्धवासनाभ्यां तु	२९०	बाधो ह्यभावविज्ञानं	२४८
प्रारब्धशेषमाहात्म्यात्	२५१	बह्नागमोपष्टम्भान्च	९५
प्रारब्धाहिनिगीर्णस्ते	९८	बालं माता खेलयति	१३२
प्राह तं तद्गणमुतं	१५१	बाह्यं शरीरसम्भूतं	४१
प्राह या मधु संस्त्राव	३३	बाह्यमव्यक्तमभवत्	३०८
प्रियया सम्परिष्वक्तो	२२४	बिम्बानुकृतिरादर्शो	२०२
प्रियस्य कण्ठासक्तस्य	३९	बिम्बापेक्षा चित्तेः स्वच्छ	१४३
प्रियां न किञ्चित् प्रोवाच	५७	बीभत्सान् भास्वरान् रौद्रान्	३५
प्रियाप्रिये हि जानन्ति	३९	बुद्धिर्नैर्मल्यभेदाच्च	२८४
प्रियायाः सम्परिष्वङ्गात्	४३	बुद्धिमन्तो हि विफलं	१५५
प्रिये कृपां मयि कुरु	१२६	बुद्धेस्तु परिपाकेन	२९१
प्रिये त्वयाऽनुशिष्टोऽहं	११८	बुद्धो तु बहवो दोषाः	२७६
प्रिये प्रोक्तं यदेतत्ते	७९	बुबुधयिपती राज	३९
प्रिये महेश्वरं ब्रूहि	९९	बुभुजे तां समाक्रम्य	६१
प्रिये विश्रान्तिमत्यन्तं	५२५	बुभुजे तां तस्य पत्नीं	४४
प्रीतः पुत्रवशं प्राणा	६४	बोधयामास चाऽऽकृष्य	१५२
प्रेष्टु ! त्वामद्य पश्यामि	१०५	ब्रवीमि भूयस्तत् किञ्चित्	१५२

श्लो०
 ब्रह्मन् ते भ्रान्तिरद्यापि
 ब्रह्मन्नेवं श्रुतं भूयो
 ब्रह्मभावनया पश्य
 ब्रह्मविष्णुमहेशानां
 ब्रूहि का ते भवेद्विद्या
 ब्रूहि किं तेऽभिलषितं
 ब्रूहि यत्तेऽपरं रूपं
 भ
 भक्त्या निरूपणसमं
 भक्षयामासुरत्यन्त
 भक्षिणी कालदेशानां
 भक्षितस्यापि सर्वस्य
 भगवन् गुरुनाथार्यं
 भगवन् संश्रुतं प्रोक्तं
 भगवन् यत्त्वया प्रोक्तम्
 भगवन् भवता प्रोक्तं
 भगवन् भूय एतन्मे
 भगवन् कुपया ब्रूहि
 भगवन् गुरुणाऽथोक्तं
 भगवन्नदभूतं ह्येतत्
 भगवन् श्री गुरो यत्ते
 भगवांस्तु जगत्कर्ता
 भजध्वं भ्रान्तिमुत्सृज्य
 भगवन् ज्ञानिनो लोके
 भगवन् किं तेन पृष्टं
 भयं द्वितीयसङ्कल्पात्
 भ्राति सत्याऽऽत्मरूपेण
 भार्गवाय समाचक्ष्यौ
 भार्गवैवं हि सा संवित्
 भावकालो परिच्छेद्य
 भावना ह्यप्रमाणत्व
 भावनाप्रभवं ह्येतत्
 भावनामात्रसंसिद्ध
 भावनायाः सिद्धिरत्र

पृ०	श्लो०	पृ०
३०१	भावयेत्स्वातन्त्र्यमात्रा	१८६
२२८	भावानां स्याद्वि साङ्कार्यं	२३४
१७२	भावाभावात्मकं वस्तु	२३२
२६०	भावितं तेनैवमेतत्	१८३
१९१	भासकं सर्वमपि च	२३०
१५१	भासकं तु न देहादि	१७५
२७०	भासकस्याऽपि भासयत्वे	१७६
	भासते केवलं राम	३०९
२८६	भासते स्वाच्छन्द्यशक्त्या	२३४
२०	भासमानं तु मणिवत्	२५३
२१३	भासमानत्वतः स्वस्मिन्	२४१
५१	भासमानस्य तु मम	११५
१४	भासयंस्तत्र द्रष्टृणां	२४०
१४७	भासयेद्वितीये स्वे	१७८
१८६	भास्यं तु भाननिर्मनं	१७७
२३५	भास्यभेदेऽपि भासस्तु	२११
२५२	भिन्नस्थितीन् स्वभावेन	२६१
१५	भीतापचारात् पत्युः सा	३४
३०	भुवनान्यपि सर्वाणि	१५८
१९९	भूतान्याभास्य देहात्मा	२४३
१३५	भूयः किं कर्तुमिच्छामि	२२६
१०१	भूयः पश्यामि चेत्येवं	११६
१३३	भूय इच्छाम्यहं श्रोतुं	५६
२६७	भूय एवंविधा दृष्टाः	२६३
३००	भूयस्त्वदुक्त्या च सम्यग्	३००
२७४	भूयो ज्ञानवासनाया	३०५
१८५	भूयोऽतिनिपुणोऽप्यन्त	१९६
१९९	भूयो दृष्टं सपूर्वं हि	१३६
२२९	भृगुरत्रिरङ्गिराश्च	२६७
२३३	भृङ्गसङ्घस्य गीतञ्च	६४
१६९	भृत्यो निधाय पानं स	४४
१७१	भेदप्रचुरसंवीता	१८१
१८४	भेदलेशमपि क्वापि	३१०
१७२	भोगवैरस्यमपरं	१०७

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
अदस्त्वौपाधिको भाति	१८३	मम क्रिया कथं का स्वात्	२२६
योगाहूतो सन्दिशति	६७	ममाज्ञानं बहुविधं	२७२
योगेषु जातनिर्वेदः	५२	ममार्थमखिलं त्यक्त्वा	११२
योगेषु रोगभीति वै	५८	ममैश्वर्यन्तु ऋषयः	२७२
भोज्यं वस्त्रं भूषणं वा	५७	मया च भावितोऽन्यन्तं	७२
अमन् योनिविभेदेषु	२५८	मयाऽनन्तप्रदेशस्य	१८३
आत्रादेस्तव देहांशः	१६३	मया बुद्धेः सङ्गमस्तु	१०८
आन्तिः सर्वसमा वापि	२३६	मया विरहितां त्वां वै	३७
म		मया शास्त्राणि सर्वाणि	१९३
मज्जितं पितरं श्रुत्वा	१९१	मया सङ्गम्य मन्मातृ	७४
मणिद्वीपे नीपवने	२७१	मया स्वस्थितिमाप्नुष्टः	१५
मत्वाऽनाश्वस्तमनसा	२६८	मयि सोऽथ दयाञ्चक्रे	२९९
मत्वा ज्वालां निजे देहे	२०	मयैकदितरूपेण	१८३
मदर्थभूतताहेतो	११४	मलमूत्रपरिक्लृप्तं	४९
मदेकसङ्गाद्युक्ति सा	७४	मलमूत्रकुसूलं तत्	५१
मदिशं मोहनायाय	४४	महत्तरं मानसं स्याद्	४१
मधुक्षीब इवात्यन्तं	१३३	महाक्लेशपरीतात्मा	७१
मधुक्षीबा रसमिव	२५०	महादेवप्रसादेन	१५३
मध्यज्ञानी निरोधस्य	२९१	महादेवोऽविचारेण	२४
मध्यमस्य विस्मृतिर्नो	३०६	महाधनी सदा भीतो	२९६
मध्यानां ज्ञानिनां तच्च	३०४	महातन्दाप्यनानन्दा	७०
मध्ये मध्ये पूर्णदशा	२८९	महाभागास्ते हि धीरा	२५
मनसाऽप्येवमेव स्यात्	२०४	महामन्त्रवती चाहं	७०
मनसैव हि बन्धः स्यात्	२३५	महामोहस्तु तत्पुत्रो	१०७
मनुष्यादिविभेदेन	२३९	महाशना पतिं वव्रे	६७
मनो बुद्धिश्च नाहं स्यां	११४	महाशनायामासक्तः	६७
मनोभूमेरभावेन	२६३	महासती मे जननी	७०
मनोमात्रशरीरः सन्	१५६	महासत्ता जगद्रास	१३९
मनो यदि भवेन्नष्ट	२६२	महासेनोऽन्यन्तशोका	१६१
मनो यद्यात्मनो न स्यात्	२३५	महेश्वरस्य च ततः	२५९
मनो विलीनमित्येवं	२११	मां जित्वाऽवरजं ह्यस्य	२९२
मनो वै निश्चलं यत्र	२६६	मां ददर्श व्याघ्रपादः	३४
मन्दज्ञानिभिरात्मा तु	३०५	मां दृष्ट्वा रतिमिच्छन्ती	१५४
मये सर्वं मया प्राप्तम्	४	मां सङ्गतेन तेषां वै	७०

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
मांसलिप्तमसृक् किलन्नं	५१	मोहयत्यल्पकोऽपीह	९३
मानसाश्च मनोमात्रा	१७५	मोहादेव समुद्भूतो	९३
मामनाराध्य परमां	२७३	य	
मायापरचितोऽत्यन्त	२४०	यः पराद्दृष्टिरेवास्ते	२००
मायावरणमप्येतत्	२४०	यः पुरा विषयः सर्वो	८१
मालिन्यशेषचित्तास्ते	२२१	यः स्वात्मनि तु सर्वात्मा	२८२
मालिन्यमुपदेशस्य	२५४	य एवं विसम्भपूर्वम्	४८
मिथ्यावासनयाविष्टो	३०६	य एवमतिबीभस्ते	५१
मिलिता मन्दज्ञानिनाम्	३०५	यच्चापि लोके फलवत्	८
मीमांसां चक्रुरत्युच्चैः	२६७	यच्चिराद्वाञ्छितं किञ्चित्	२१४
मुक्ताचूडप्रिया चापि	५२	यच्छोर्कैरनुसम्भन्नं	९२
मुक्ता हि ज्ञानिनो लोके	२५०	यच्छोचनमकृत्वा तु	१६२
मुनिपुत्रः पुनः शैला	१५९	यतः प्रमाणानपेक्षम्	१२२
मुनिपुत्र शृणु वचो	२००	यतः सर्वं चित्तमनु	१३३
मुनिपुत्राभिधास्यामि	१९५	यतः सर्वान्तरं तत्तु	२८६
मुनिपुत्रेण योगेन	१५७	यतः सा विदिता सम्यक्	१८९
मुनिपुत्रो वचः प्राह	१६२	यतः सुषुप्तौ चलना	९०
मुनीन्द्रा नाहमप्येतद्	२६८	यतः स्वप्नेष्वयं जीवो	१००
मृमुक्षा या मुख्यतमा	२५७	यत आकारभेदो हि	२०१
मुमुक्षामन्तरा यत्तु	२५६	यत एतद्वेदितुः स्यात्	२०२
मुमुक्षामन्तरा यैस्तु	२५६	यत एवं महानर्थं	९०
मुष्टिभिश्च शिलाभिश्च	२१	यतोऽत्र विद्यां तिर्यञ्चो	५३
मुहूर्तमभवं भूय	२२४	यतो न तेषां सहज	२८८
मूढः श्रुतज्ञानहीनः	२१९	यत्तेऽवभासते किञ्चित्	२००
मूढा न हि विज्ञानन्ति	३११	यतो वह्निः कालभेदात्	४०
मूत्रोच्चारदलेष्मनख	१६३	यत्ते परं वज्रदेशे	१६०
मूषकैरुपदीकाभिः	१६७	यत्त्वं निमील्य नेत्रे स्वे	१२८
मृत्युरप्यात्मतां याति	३	यत्त्वया विदितं तत्तु	१८९
मृषानुवृत्तिस्तत्रेति	१६७	यत्पदे विदिते सर्वं	११२
मृषा हि तपसां हन्त्री	८०	यत् प्राह राजतनय	४६
मेघाविनां ज्ञानिनां तु	२६५	यत्र कीराः पञ्जरस्था	१३३
भोक्षं नापेक्षते क्वापि	२८३	यत्र ता ग्रन्थयः सन्ति	१२८
भोक्षः पूर्णस्वरूपस्या	२३३	यत्र तत्र व्रजति तत्	२८६
मोहगन्धान् ज्ञानगन्धान्	६६	यत्र सर्वं जगदिदं	२७०

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
यत् स्थिता न मुह्यन्ति	१२७	यथा स्वप्नः कुठारः स्यात्	२३८
यत्तात्मनाश एवार्थः	१४	यथा स्वप्ननिधिप्राप्तिः	१८९
यथाभावश्चित्तेर्ब्रूयात्	१३९	यथा स्वप्नात् प्रबुद्धो वा	१६५
यथा जाग्रति वस्तूनां	२४७	यथा स्वप्ने मनस्तद्वत्	२३०
यथा कश्चिदेतत्तु	२७६	यथाऽहं ते ममत्वेन	११२
यथा कश्चित्स्वकण्ठस्थं	१९६	यथाह कश्चिन्नटीको	८०
यथा कश्चिददन्भिर्क्षां	१२६	यथा हि सन्निपातेन	२७
यथा कश्चिदध्रान्तचित्तः	१२०	यथा हि भिन्नं नगरं	१७८
यथा क्रीडन् कुमारेण	२९०	यथा हि दीपो विषया	१९६
यथा क्षयामयाविष्ट	९	यथा हि दर्पणे भावा	३११
यथा घटो भासते हि	१७५	यदर्थो देहादिभावो	३११
यथा घ्राणोल्लासकता	३	यदस्तीति भाति तत्तु	१४६
यथा जाग्रति जाग्रत्वं	१६८	यदा चित्तिनं भायाद्वै	२४८
यथा ज्ञानिशरीरं तु	२६०	यदा तदा मुमुक्षत्वं	२२०
यथा तरङ्गा जलध्रे	७०	यदात्य त्वं कथं प्रश्न	८४
यथात्यन्तमुमेधावी	२६३	यदात्मनोऽनन्यदेव	२७५
यथा त्वं मयि चाल्यन्त	४८	यदा यत्र च सा नास्ति	२०६
यथा दग्धाखिलाङ्गस्य	९	यदा यद्रूपतो यस्मिन्	१२८
यथाऽऽदर्शं विना किञ्चित्	२३८	यदा विचारमुक्ताः	२८९
यथादशभाव एव	३१०	यदा सा न प्रकाशेत	१९७
यथादर्शो नगरताम्	३१२	यदि कर्त्तव्यशेषेऽपि	९
यथा न सन्ति तद्वद्वे	१३९	यदि त्वं देहभिन्नोऽसि	१६४
यथा नाटकवृत्तेषु	३०५	यदुक्तं वेदकाभावात्	१९४
यथा निद्रामोहितात्मा	१६५	यदुपाश्रित्य वै सर्वं	१९३
यथाज्ञेकरूपविधे	१७८	यदेव जगदाकारं	२७०
यथाऽन्यकार्यसक्तस्य	२६५	यद्यप्यकर्तृकं लोकम्	९४
यथा पित्तप्रदुष्टाक्षो	१७४	यद्यप्यनुलङ्घनीये	९८
यथा प्रकाशे व्युत्पन्नो	१२०	यद्यस्याभिमतं तत् स	८७
यथा मनोरथे बद्धः	२४५	यद्वाजा प्रत्युवाचैनं	१९९
यथा यो मां भावयति	२७२	यद्वशादेव संसार	१२८
यथा लोकभातमपि	२३५	यन्मतोऽप्येष देवपिः	२
यथा शराविद्धहृदः	९	यथा किङ्करतां प्राप्ताः	४१
यथा शास्त्रज्ञता लोके	२८६	यस्तं प्रसादयेत् सम्यक्	९३
यथा सुदग्धसर्वाङ्गो	२५७	यस्तु श्रुत्वा शुक्रतारां	२१९

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
यस्तृतीयो बुद्धिदोषो	२७८	योगसामर्थ्यतः शैले	१५६
यस्त्वया बाह्यसरोधे	११९	योगिनः पश्य सृष्टिं तां	१४५
यस्मिन् ब्रह्माण्डकोटीनां	१२७	योगिनां गुह्यकादीनाम्	१४६
यस्य भानावमानौ च	२८७	यो देहयात्रानिर्वाहः	२८९
यस्य मे करुणासिन्धु	३	यो यथा सङ्गमाप्नोति	५६
यस्य साक्षाद् ब्रह्मपदम्	२८०	यो यथा भावयेदेतत्	१४८
यस्य स्वभावादत्यन्त	२६०	यो योजयति जिज्ञासुम्	८१
यस्य स्वभावात् संशुद्धं	२६०	यो हि लोकेऽल्पमायाश्च	९३
यस्यां क्रियायां देहोऽयं	२२७	र	
यस्यैवं बाधयोगः स्यात्	२३२	रक्तान् श्वेतान् पीतनीलान्	६५
यस्योत्साहो भवेज्जानं	२८७	रज्जुसर्पपरिश्रान्ति	२४६
यां चित्तिं समुपाश्रित्य	१४१	रत्यावेशात् परिश्रान्तिः	४३
या चितिः परमेशानी	३०८	रामस्तृष्णा परिच्छित्ति	१८१
या चित्तिश्चाऽत्र विच्छिन्ना	१८०	राजंस्त्वयोक्तमन्येभ्यः	२०७
या महाव्यवहारेषु	२८१	राजन् विमृश धैर्येण	१६२
यावत् कर्तव्यवेतालात्	१९	राजन् विदेहाधिपते	१९९
यावदन्यत् फलं प्रोक्तं	२७५	राजन् यदुक्तं भवता	२१४
यावदन्वेषणं कुर्यात्	१२१	राजन् न साध्यं ह्येतत्ते	१५२
यावत् त्वमात्मनि ममे	१११	राजन् विमृश कस्त्वं वै	१६३
यावदेतद्धि विज्ञानम्	१९६	राजन् शृणु महादेव्या	१६४
यावद् दृष्टिः प्रवृत्तिं तु	१९७	राजन् मुखञ्च दुःखञ्च	४०
यावद्बन्धभ्रान्तिमेतां	२४५	राजन् स्वात्मनि सम्पश्य	१७८
यावन्न विदितं स्वात्म	१६५	राजपुत्र तनुरियं	५१
यावन्नान्तर्दृष्टिमेति	१९८	राजपुत्र सूक्ष्मदृशा	१२३
यावन्निवारयेत्तावन्	२४४	राजपुत्र किञ्चिदहं	३००
या सा पराचितिः पूर्णा	३०८	राजपुत्रो वनं प्रागात्	४८
या स्थितिः शारदाभ्रस्य	४७	राजामात्याश्च गुरवो	११३
गुह्यमास्वहं मज्जयामि	१९१	राज्ञा वितीर्णो विषयः	५९
ये न जानन्ति सदसत्	२२१	राज्ञा हि रक्षिते लोके	१५३
येन तात्पर्यतश्चापि	२७८	राधिता परमा देवी	२६
येन लोकाः पुण्यतमा	३३	रामः सर्वजनारामो	३
ये नष्टमानसाः प्रोक्ताः	२६३	राम कर्मवासनाभि	२६२
येषां तल्लेशकश्चित्ते	२६१	राम तत्ते प्रवक्ष्यामि	३००
येषां समाराधनेन	२२२	राम ते भानसी सृष्टिः	१४१

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
गमभाषादेव चित्तिः	२४८	वातनुन्नाभ्रलेखेव	१९८
गमबुद्धिमतां श्रेष्ठ	१८८	वादेषु निजितान् मर्त्यान्	२९३
गमयः परिपूर्णत्मा	२४२	वासनावेगवशतो	५७
गमयावन्त जायेत	१०४	वासनाल्प्याधिक्यभावात्	२५३
गममाधु त्वया पृष्टं	२३६	वासन्तिकामिव लतां	४६
गमभीषनुयात्येव	२८	विकल्पाच्छादनादेव	२२८
गमाम्भोधो तरङ्गाणां	२५५	विचारशितयन्त्रेण	२५३
गमाङ्गदोऽथ तं दृष्ट्वा	२९२	विचारशीतलस्पर्शः	२६
गदितं विप्रलपितं	६४	विचाराद्विष्णुमाश्रित्य	२३
गदिरास्थवादिसङ्घातः	११४	विचारानुध्यानपूर्वं	२२८
गदोघ चित्तं तु हठात्	११६	विचारार्कोऽविचारान्ध	२६
ल		विचारेण भवेच्छ्रयः	३०
लक्षितो मे स भगवन्	१७	विचारेण स नश्येद्वै	२९५
लामालाभो जन्मित्रे	१३१	विचारोदयपर्यन्तं	२७
लिखितं दृष्टिदोषघ्नं	३१३	विचार्य स्वात्मनो भावं	१३१
लोकस्य गतिमेतान्तु	६	विजिज्ञासितजिज्ञास्यो	११
लोकस्वर्गतिरियं चैर्यं	१६०	विजित्य वारुणि सिन्ध्वा	१९१
लोके द्विजानामृषयः	२८१	विज्ञातं तद्विचारेण	२२४
लोकेऽपि कामी काम्यस्य	२७७	विज्ञानफलहीनेन	२२७
लोकेऽपि गच्छन् मार्गेषु	२२७	विज्ञानवृत्तसर्वस्वं	१९९
लोकेऽपि बन्धविगमात्	२३२	विज्ञानस्य फलं सर्वं	२७४
व		वितता चित्तिराकाश	२९४
वक्ष्यस्यनेकसाहस्र	७९	वित्तिरन्या यया वेद्यं	२०१
वत्साऽऽशु गच्छ तं देशं	१५०	विदितं तत्पदं भूयो	१९३
वत्सोत्तिष्ठ चिरादद्य	१५	विदिते प्रतिबिम्बत्वे	३११
वत्सैतदविदित्वैव	१९५	विदित्वैवमवेद्यं च	१९८
वदन्त्वृषिगणाः किं वो	२६९	विद्यात्मिका वा त्रिपुरा	२४६
वदन् भवान् किं स्वरूपो	१६४	विद्या बुद्धिदेशनश्च	९२
वदाऽऽहूतो कारणं मे	११८	विद्वत्ता हि स्वसंवित्ति	२८६
वदेवं संस्थिते लोके	५१	विद्वांसः शतशो विप्राः	२९८
वरं तिर्यक् कीटकुमि	४२	विधयो विविधा आसं	३०९
वसुमानिति विख्यातः	२९८	विधूय वासनां सत्याम्	३०६
वाग्मिनश्च व्यासमपि	२६१	विना तेन न तत् प्राप्तं	११९
वाञ्छाशतसमाविष्टो	४२	विना मां च क्षणोऽप्येको	१०५

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
विनाशमीयुस्तन्निष्ठाः	८६	विसृज्यानुचरान् सर्वान्	११३
विना सत्सङ्गतः केन	३१	विस्मितोऽभून्महासेनः	१५८
विन्दन्ति रतिमत्यन्तं	४८	विस्मृतञ्च मया यस्मात्	५
विपरीतग्रहश्चापि	२५४	वृक्षान् केचिच्छिलाः केचित्	३२
विपरीतनिश्चयेन	२७७	वृद्धप्रज्ञो हि जनकः	१८९
विपरीताभ्यासवशात्	२६२	वेद्यं विना तु संवित्तेः	१८७
विपरीतो निश्चयः स्यात्	२७७	वैद्यहीना भवेद्वित्ति	२६६
विप्रवेषधरो नेतुं	१९०	वैदिकं वैष्णवं शैवं	२
विप्राः शृणुष्व मद्वाक्यं	८५	वैरस्यं भोगवृन्देषु	२२२
विप्रान् विमोचितान् सर्वान्	१९२	वैराग्येण मुमुक्षत्वं	२५७
विभज्य संस्थितं सर्वं	१५८	वैषम्यहेतोर्मृग्यत्वात्	१३७
विभावय सूक्ष्मदृशा	२४७	व्यत्यस्तमूर्ध्वाविरतो	१७४
विभावय सूक्ष्मदृशा	२३०	व्यवस्यन्ति सुतर्कण	९१
विभिदुर्गण्डशैलं तं	१४९	व्यवहारं करोत्येष	२९०
विमना इव सञ्जातौ	१९४	व्यवहारं च कुर्वन्ति	३०२
विमर्शभेदाद्भेदो हि	२११	व्यवहारः स्थिरप्रायः	६
विमर्शाभावमात्रन्तु	२१२	व्यवहारपदा वित्ति	२६६
विमुख्यां त्वयि भोगेषु	३७	व्यवहारपरास्त्वेकं	२६८
विमुख्य गुरुणा प्रोक्तं	१८६	व्यवहारवशाज्ज्ञानं	३०१
विमुख्य स्मरणद्वारा	१९८	व्यवहारप्रसिद्धचर्च	२७६
विराजते विचारेण	२३	व्यवहारपरो भावा	२८२
विरूपतोल्लेखनं वा	४९	व्यर्था सापि भवेन्मन्दा	२५६
विलोक्यते या हि योषित्	४८	व्याप्त्या वासोमध्यमपि	२८९
विवाहप्रकरोत्तस्य	३६	व्यावृत्तिः स्पर्शहीनेयं	२४१
विविधा या वासनोक्ता	२६१	व्यावृत्तिर्वा परिच्छेदः	२४२
विवेकवार्तापरमं	१३२	व्रजाम्यहं त्वया चैतत्	१९८
विवेचनं नास्य भवेत्	१६९		
विवेशाश्वं समादाय	१४९	श	
विशालनगरं तच्च	५२	शक्येषु स्थूलभूता सा	२७८
विशेषलेशरहित	२३०	शङ्कितोऽमर्षितश्चापि	४५
विशेषस्तत्र चैतन्य	२३९	शचीशृहं देवपति	४५
विश्वकर्ममुखानां च	१७२	शप्त एवमहं तेन	२९८
विषयेषु प्रसक्तेषु	५७	शयनानि च वासांसि	६५
विषयान् सेवमानोऽहं	५९	शरीराद्यात्मना भासि	२३०
		शशास राज्यं नृपतिः	१४८

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
मानास्तृष्णीं बभूवाथ	२९८	शृणु राजन्त्यं लोकः	१५९
मारुतं हंसमङ्गातैः	१९०	शृणु राम प्रवक्ष्यामि	३०
आमन् राज्यं समृद्धं स्वं	१३०	शृणु राम प्रवक्ष्यामि	१३५
आम्वाणि पाठयन्ति स्म	१३२	शृणु राम जगद्भ्रान्ते	१४७
अनं श्रेयोत्तमाः प्राहुः	१७७	शृणु राम प्रवक्ष्यामि	२५२
अवस्य यादृशी सैव	३०७	शृणु वक्ष्ये प्रियतम	९०
अप्योऽहं ते वदैतन्मे	१९५	शृण्वन्तु सङ्ग्रहाद्वक्ष्ये	२७२
अतकाले प्रियो वह्नि	४०	शृण्वन्न कारणं राम	२८५
अतप्रकृतिजीवानां	४०	शेषिता परमा संवित्	३११
अुत्प्यारोपितहैरण्य	८०	शैललोकगतामां नो	१५९
अुरुः पराशरो व्यासः	२६७	शैललोके यद्विनैकं	१६९
अुद्धदर्पणमात्रः स्यात्	३११	शोकसंविग्नहृदयो	५७
अुद्धविद्येति सम्प्रोक्तम्	१८०	शोकाङ्कुरमहाशक्ति	९२
अुद्धे मनसि वै ज्ञानं	२०६	शोचत्यनुदिनं कस्मात्	४१
अुद्धैकरूपभासापि	२४०	शोचन्तमिव पश्यामि	५८
अुभं वाप्यशुभं वापि	२७	श्रद्धया पीरुषपरो	९१
अुभं वाप्यशुभं वापि	२८	श्रद्धा माता प्रपन्नं स	८२
अुष्कतकर्कसङ्कल्पं	९४	श्रद्धामायाभ्युपगतं	२१८
अुद्धा भृति सुधां देवाः	९१	श्रद्धाऽवरे न कार्येति	८३
अुन्याख्यया पोषिता च	६९	श्रद्धावैधुर्ययोगेन	८२
अृणुध्वं मुनयो नाऽह	२६८	श्रद्धा हि जगतां धात्री	८२
अृणुध्वमृषयः सर्वे	२७०	श्रीगुरो ! करुणासिन्धो	१३
अृणु प्रिय निरोधान्ते	१२०	श्रीनाथेनाभ्यनुज्ञात	४
अृणु ब्रह्मन् रहस्यं ते	२११	श्रुतं कच्चिन्नारदैतत्	१
अृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि	२१४	श्रुतं त्वदुक्तमेतद्वै	१५५
अृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि	२१७	श्रुतमेतद्वि विज्ञानं	३०७
अृणु ब्रह्मन् न जानासि	३०२	श्रुता विचारिता सम्यक्	२८३
अृणु राजसुतोक्ति मे	८१	श्रुतितो युक्तितो वापि	२७३
अृणु राजकुमारैतत्	१२७	श्रुतो न नाशयेत्	३१३
अृणु राजन् यद्वि वरं	८१	श्रुत्वा कदाचिन्मत्तोऽयं	१५४
अृणु राजन् प्रवक्ष्यामि	१५३	श्रुत्वाऽपूर्वं वाक्यजालं	५२
अृणु राजन् ! यत्त्वयोक्तं	१६६	श्रुत्वेत्थं वचनं रामं	९९
अृणु राजन् ! देशकाल	१७३	श्रुत्वेत्थं प्रियया प्रोक्तं	१०९
अृणु राजन् ! बहिरिति	१७५	श्रुत्वेत्थं भार्गवो रामो	२८४

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
श्रुत्वैतदथ सन्तुष्टौ	२९७	सङ्गतः सन्निभां प्राप्तो	३१
श्रुत्वैतद्भूतार्गवो रामः	१९९	सङ्गस्याथ तथा राजा	३४
श्रुत्वैवं हेमचुडस्य	१३५	सङ्गेन हेमलेखायाः	५३
श्रुत्वैवं जतकेनोक्तं	२१४	सङ्घातस्यैकदेशस्य	१६३
श्रुत्वैवं राक्षसकथां	३००	स तमव्यक्तभागन्तु	३०८
श्रेयः प्राप्नोति सहसा	२५९	सत्तर्कसंश्रयेणाशु	९०
श्रेयस्तद्धि विजानीयात्	९२	सत्यं प्रोक्तमिदं नाथ	५६
श्रेयो न प्राप्नुयात्लोक	८५	सत्यं स्वभावं नो मुञ्चेत्	१४५
स		सत्यं सुषुप्ती मनसः	२०७
संक्षेपेण पुनर्ब्रूहि	३०८	सत्यं राजकुमारैतन्	३०१
संयोगो विप्रयोगान्तः	२७५	सत्यं स्त्रियो मुग्धभावा	४०
संयोज्य बोधयामास	१५६	सत्यज्ञानवासनया	३०५
संवर्त्तमवधूतेन्द्रं	१५	सत्यप्यनेकवैचित्र्या	२४२
संवेदनं सत्यमेकं	१८६	सत्यस्मिन् निश्चये भूयात्	८४
संश्रुत्यैवं भागं वीक्ति	१३	सत्याः स्युर्बाधेहेतोस्ते	२३२
स एको बहुधा भूत्वा	७१	सत्यासत्ये विभागेन	१४५
स एव माञ्च सङ्गम्य	७२	सत्सङ्गशास्त्रयोगैश्च	२५४
स एव सर्वथा सर्वः	१००	स ददर्श विगाहन्ती	३४
स एव विपरीतो वै	१४६	सदसद्वापि हि जनः	२५८
स एव तेषामात्मा स्यात्	२४३	सदा विभेति को लोके	२९६
स एव भारनाहादौ	३११	सदाशिवादितस्तम्बान्ता	३०९
स एव भूयः स्वातन्त्र्यात्	३०९	सदा सदागमायत्त	८७
स एवाद्य साधयति	८१	सद्गुरुं प्राप्य तत्प्रोक्त्वा	२२२
स कर्त्ता घटकर्त्तव	१००	सन्तप्त इव नीहारं	१५
सकर्त्तुं जगदिदं	१३८	सन्तपिताः पितृगणा	१४
स केवलं दैवहतः	२	सन्ति कामक्रोधमुखा	२७८
सखीं न प्राप्तवान् मातु	७९	सन्ति स्थूललक्षणाणि	२८६
सखीदुःखाद्धतप्राया	६९	सन्तुष्टः प्राह करुणा	२८४
सखीसंयोगतश्चैव	७०	सप्रपञ्चाज्ञाननाश	२१८
सख्या प्रियेण पुत्रेणा	६२	स प्रपन्नान् समुद्भर्तु	९५
सङ्कल्प एव स्वातन्त्र्यात्	१४४	स ब्रूयान्नाहमस्मीति	२४९
सङ्कल्पवर्जनादेव	२३५	समं नास्ति मनुष्यत्वं	२२१
सङ्कल्परूपिणी तस्या	४९	समनस्कास्तु ते प्रोक्ता	२६३
सङ्कल्पो भावना प्रोक्ता	१७१	समयेन विजेष्यामि	१९१

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
गमादाय विनिर्गन्त्य	१५९	सर्वसाधनसम्पत्ति	२७९
गमाधितः समुत्तिष्ठेत्	१५१	सर्वहृत्पद्मानिलय	२६
गमाधिर्वै स्वस्वस्य	२६५	सर्वात्मना योजयति	९५
गमाधिश्च सुषुप्तिश्च	२११	सर्वात्मभूतं यदूपं	३१३
गमाधिस्त्वपरिचयात्	२१२	सर्वानन्दधनाकार	३११
गमाधी केवलचिति	२११	सर्वानुस्यूतसंचित्ति	३०७
गमाध्यतत्परो भूयात्	३०६	सर्वाश्रयं सर्वरूपम्	१२८
गमानयत्स्वलोकस्थान्	१९२	सर्वाश्रयं सर्वगतम्	२०५
गमाश्लिष्य रतिशान्तां	४६	सर्वासि सर्वसारासि	२५९
गपीपमुपमृत्याशु	११७	सर्वे वेदितवेद्यास्ते	१३२
गपीहते यत्र गन्तुः	६३	सर्वे शोचन्ति यत् करिणम्	१५८
गमुद्रवल्यां पृथ्वीं	१५५	सर्वेषाञ्च समानं स्यात्	३०३
सम्पूर्णता सदापन्ना	१२	सर्वेषामस्ति यदि नेतृ	२१३
सम्प्रत्ययोऽयामध्यास्ते	१४	सर्वैर्जनितं मद्देश्य	१०१
सम्प्रवृत्तिर्विद्वद्येत	१३६	सर्वैर्विनिन्द्यतामात	३८
सम्बन्धोऽपि नैकदेशः	२३४	सर्वोऽपि स्वात्मना हेतो	११३
सम्भेदात् विकल्पेन	१७३	सर्वोऽपि व्यवहारोऽयं	३०१
सम्यगेवेति तदबुद्ध्या	७	सर्विकल्पत्वमापन्ने	३०१
सर्वं शृङ्खासि सततम्	३१०	स शीलपुरुषो लोके	३१३
सर्वं जानाति तत्काले	९७	स साधनप्रयत्नोक्तं	२०९
सर्वकर्तृव्यवैकल्या	१७	स स्वरूपात्मकत्वात्	२३१
सर्वजागृतविज्ञानम्	२४९	सहस्रबाहुयुगपद्	२६८
सर्वज्ञानाप्यकिञ्चिज्ज्ञा	७०	सह्याचलवनं भीमं	२१
सर्वज्ञस्तु विचारेण	२३	सा कर्मधासना प्रोक्तं	२५८
सर्वत्र व्यवहारेषु	२८१	सा केवलमनोरूपा	१८१
सर्वत्र दृश्यते लोक	१३७	सा चित्तिः परमा शक्तिः	१८५
सर्वत्र हि विवादेषु	१९५	सा त्वन्यस्मिन् राजसुत	४८
सर्वत्राखिलमात्मानम्	१३०	साधकस्तु तदा स्वात्म	२८७
सर्वथा तु समुत्पत्तिम्	१३६	साधकात्मजगद्दाटे	३१२
सर्वदीक्षासमधिकं	४	साधनापेक्षणं तस्य	२५३
सर्वमेतद् सुकृपया	१७	साधारणं जगद्भाति	१८४
सर्वरूपाप्यरूपा सा	७०	साधारणं स्थिरं स्वार्थं	१४५
सर्वविज्ञानात्मकत्वं	२७४	सापि रज्जुश्चित्ति यदा	२४५
सर्वसन्देहनिर्मुक्तो	३०७	सा प्रमाणान्तरकृता	८५

श्लो०
 सा प्रिया तस्य चपला
 सा भवद्रूपिणी देवी
 सामान्येन विभान्तं मां
 सा भुमुक्षा भवेत् तीव्रा
 सारथिः स्यादेवमेव
 सारभूतञ्च सुलभं
 सा वा सखी मे कुत्रास्ते
 सा विचित्रविघ्नाश्चयं
 सा समाच्छाद्य तान् सर्वान्
 सा स्वप्रभा दृश्यरूप
 साश्चराजकुमाराणां
 सिंहादिगजितं मेघ
 सिद्धस्यैषा स्थितिः प्रोक्ता
 सिद्धिरित्युच्यते प्राज्ञै
 सिद्धेस्तु परमां काष्ठं
 सुखं वाञ्छावशेषेऽपि
 सुखं वैषयिकं श्रेष्ठं
 सुखदुःखावभासानां
 सुखबुद्धिश्च दुःखेषु
 सुखसाधनभूतेषु
 सुखाशिनो दुःखसङ्घं
 सुखिनस्ते हि लोकेषु
 सुतर्कितेन कालेन
 सुदग्धा निन्दिता लोकं
 सुदुर्लभं तेष्वपि च
 सुबुद्धानां क्षणेनैव
 सुबोधिता त्वया चाहं
 सुरूपी सुगुणो चोभो
 सुलभं शीघ्र सम्प्राप्य
 सुषुप्तिः क्षणिका तद्वत्
 सुषुप्ती सर्वजगतो
 सुषुप्ती प्रकृतिर्ज्ञेया
 सुषुप्ते पञ्चतनयान्
 सूक्ष्माः समाधयः सन्ति

पृ०
 ६३
 १५
 २३०
 २५७
 २९०
 २८४
 ८०
 ६०
 ७१
 २३१
 १४९
 ६४
 ३०६
 २८०
 २७०
 ४१
 १२६
 २१७
 २८
 ५०
 १३६
 ९
 ११
 ६८
 २२०
 २२३
 ४०
 ३१
 २८५
 २१२
 १६८
 १८२
 ६३
 २१२

श्लो०
 मृष्टौ वा प्रलये वाऽपि
 सैव तत्तत्त्वमित्येव
 सैव सिद्धिर्नेतरा तु
 सैव हैरण्यगर्भाख्यां
 सैषा म्लाना भवेन्मिथ्या
 सोऽद्वैतात्माऽहमस्मीति
 सोऽन्येषां नाशयेन्मोहं
 सोऽपि गण्डशिलान्तस्थो
 सोऽपि प्रियासमाश्लिष्टो
 सोऽपि शून्यात्मतां प्राप्नोति
 सोऽपि वनराजिषु
 स्थानं तदुपलब्धौ किं
 स्थिताप्यनेका सम्पूर्णा
 स्थितायां शुद्धसंवित्तो
 स्थिरं तावद्भवत्येवं
 स्थूलान् कृशानपून् दीर्घान्
 स्फुरत्येव हि सर्वेषां
 स्मराम्यनुभवाम्यन्त
 स्वतो न भासते क्वापि
 स्वनियत्या कर्मपाकं
 स्वरूपं सर्वतः पूर्णम्
 स्वपक्षत्वेन जानीयु
 स्वप्नस्तु मानसोल्लासः
 स्वप्नादिष्वप्यवस्थासु
 स्वप्ने वापि कुतोऽन्यत्र
 स्वप्ने दृशिः क्रिया कार्यं
 स्वप्ने न जायते जाग्रतु
 स्वभावसत्यपि मुधा
 स्वभावतस्तु शोचामि
 स्वभावतो विरुद्धा वै
 स्वभावस्थं स्वरसतो
 स्वभावाद्यस्य वै बृद्धेः
 स्वमायया स्वमज्ञात्वा
 स्वयं स्वदृष्टत्वा पूर्णात्म

पृ०
 १७९
 २०१
 २८०
 २५८
 ३०६
 २२३
 २४९
 १५५
 १०५
 ८६
 ३६
 २९४
 ३०९
 १८७
 १७२
 ६५
 २६५
 १०९
 १४३
 ९७
 २३२
 २६८
 ११६
 २८१
 १०५
 २३८
 २४७
 ७३
 १६४
 १७३
 २७१
 २५९
 २७२
 २४०

श्लोकानुक्रमणिका

३४५

श्लो०	पृ०	श्लो०	पृ०
स्वरूपं सर्वतः पूर्णम्	२३२	स्वाप्नवृक्षोऽपि न कलः	१५५
स्वरूपज्ञास्तु ये राम	२५०	स्वाप्नचित्राभिर्नभुन	१५६
स्वल्पा कामात्मकाश्चापि	२६२	स्वानो वा भायको वसीष	१५७
स्वसङ्कल्पाद्रास पश्य	१४४	स्वीयानां गुणरीपाणा	१५८
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि	१९०	ह	
स्वस्वगर्शं वयं विद्मः	२६८	हत्वा भविष्यद्वा वयं	१५९
स्वातन्त्र्यमधिगम्याऽथ	१८५	हर्षोऽप्यायन् रोगकृत्	१६०
स्वात्मन्येवाभिजानाति	२८२	हसन्निव लोकतनू	१६१
स्वात्मभित्तौ जगच्चित्रं	१३८	हितेषु रमन् वसीष	१६२
स्वात्मानं न विजानाति	१२२	हृष्टो विमण्णश्च विदुः	१६३
स्वात्मानमारोह्यति	१९	हेमनूतः नवीनतन	१६४
स्वात्मीकरोति यानल्प	१२९	हेमनूतोऽन्तर्द्वारान्	१६५
स्वात्मानुभववार्त्तासु	२८७	हेमलेखावच श्रुत्वा	१६६
स्वानुभूत्या स्वान्तरेव	२८२	हेमलेखा यमाच्छ्रव	१६७